ति-दर्शन

दूसरा खण्ड।

कर्ता-

राधामोहनगोकुलजी

(राधे)

प्रथम बार १००० }
मूल्य ॥)

समर्पण।

मैं प्रेम पुरःसर इस लघु पु-
स्तकको भारतके प्राणप्रिय नवयु-
वकोंके कर कमलोंमें समर्पण क-
रता हूं। आशा है कि जिस प्रेम
भावसे मैं उन्हें समर्पण करता
हूं वह भी उसी प्रेमसे इसे स्वी-
कार करेंगे॥

ओ३म् शम्॥

सहज चेतना।

जिस जातिमें धन व प्राण स्वतन्त्रता व मानमर्य्यादासे अधिक प्रेमके पात्र होते हैं उसमें नीति व बुद्धिको स्थान नहीं मिलता। जिस जातिमें बुद्धि व नीतिको प्रधान स्थान नहीं मिलता वही जाति पतित होकर मिट्टीमें मिल जाती है। मानो देश-प्रेम, मान-मर्य्यादा, स्वत्व स्वातन्त्र्यकी रक्षाके लिये धन प्राणको तृणवत् त्यागनेको प्रस्तुत रहना ही मनुष्यत्व है, उन्नतिका महामन्त्र है।

अपने देशकी अबलाओंका सत व शील भङ्ग किये जाते देख, अपने देश बान्धवको वध होते, अपनी मानमर्य्यादाका गला घुटते देख जिनकी थैलियां नहीं खुलतीं, जिनकी भुजाएं नहीं फड़कतीं, जिनके प्राण समरभूमिमें जाकर मरनेमारनेको तय्यार नहीं होते उनका जीना मरनेसे भी बुरा है।

सदाचार व बुद्धिकी वृद्धि ही उन्नति है, नीतिज्ञता और समझकी कमीका ही नाम अधःपात है।

जो सांपकी तरह धन ताकने व हिजड़ोंकी तरह प्राण बचानेकी ही चिन्तामें रहता है उसको मनुष्य कहना मानो मनुष्यजातिको कलङ्कित करना है—मनुके पुत्रोंको गाली देना है। मनुष्यकी शोभा लेखनी व खड्गसे है नकि धन व रूपसे।

विषय सूची।

नीतिदर्शन उत्तरार्ध।

पाद ३

पाद ४

शुद्धि-पत्र ।

पृ०-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६—१०	चोरी	यह बात चोरी
८—२१	लोगोंको	लोग
९—१५	अदूदर्शी	अदूरदर्शी
१४—२०	स्वन्तन्त्र	स्वतन्त्र
१६—१९	सुगने	सुनने
३६—१०	प्रकाश न	प्रकाशन
,,—१८	सम्पति	सम्पत्ति
४१—२२	नहुआहोता	न हुआ होता
४८—९	ग्रन्द	ग्रन्थ
४९—१८	याचक	याचक
५१—१०	दुष्कृवि	दुष्कृति
५८—२४	सनाज	समाज
६३—१	चेमत्कार	चमत्कार
७३—१२	दुर्वासाओं	दुर्वासनाओं
७१—१६	मघट	मरघट
९२—१५	दशाएं	बसाएं
९४—१२	इतिवत	इतिवृत्त
१०२—११	करने	फटने
११४—२६	पर है	पर नहीं है
१२५—१५	नचो	नीच
१५४—५	संयुक्त	संयुक्त
१६६—१३	Reress	Redress
१७२—२६	नहिषके	नहिषः
१८१—९	युक्त	मुक्त

और भी छोटीमोटी भूलोंका छपनेमें रह जाना सम्भव है जो पाठक सम्हाल-कर पढ़लें और मेरा अपराध क्षमा करें। गुणोंसे लाभ उठायें दोषोंको मुझे सूचना दें जिससे मैं भी लाभ उठाऊं।

(राघे)

॥ ओ३म् ॥

भूमिका ।

(खण्ड दूसरा)

जिस नीति विषयक छोटीसी पुस्तककी हस्तलिपि मैंने १९१० में तय्यार की थी उसका पूर्वार्ध (प्रथम खण्ड) श्रीयुत सेठ दामोदरदासजी राठीकी पूर्ण सहायतासे गतवर्ष अर्थात् १९१२ में प्रकाशित होचुका है। हिन्दी-रसिकों व विद्वानोंकी जो सम्मतियां उसपर प्रकाशित हुई हैं उनसे उत्साहित हो और अपने देवनागरी भक्त बाबू कालीचरण जी मित्रकी हार्दिक सहायता पा, इस दूसरे खण्डको भी इस वर्ष पाठकोंकी भेंट करता हूं, आशा है कि यह प्रथम खण्डसे कहीं अधिक प्रिय और मान्य हो; क्योंकि उसमें रूखे फीके दार्शनिक विषय थे जिनमें जनसाधारणकी विशेष रुचि न होना स्वभावसिद्ध है और इसमें सरल प्रतिदिनके कामकी आवश्यक व परिचित बातें हैं।

प्रथम खण्डकी १५०० प्रतियां छपी थीं जिनमेंसे १००० तो राठीजीने बांटी व शेष ५०० प्रतियां मेरे पास रहीं जिनमेंसे अब केवल पांच सात ही और बची हैं। इस खण्डकी केवल १००० प्रतियां छपवाई गई हैं, जिससे दोनों खण्डोंको मिलाकर एकमें पुनर्वार छपानेका अवसर जल्दी मिले।

इस पुस्तकके लिखनेका कारण मैं प्रथम खण्डकी भूमिकामें 'हिन्दीमें नीतिशास्त्र सम्बन्धी क्रमबद्ध किसी ग्रन्थका न होना' बतला चुका हूं। उसके दुहरानेकी कोई आवश्यकता नहीं। परन्तु मेरा यह पक्का मत है कि कोई भी पुस्तक क्यों न हो जो पाठकोंके मनोंमें जागृति, हृदयोंपर स्थाई अंकना और नसोंमें करारापन न पैदा करे सर्वथा निकम्मी है। फिर जब नीति और सहज चैतन्यताके अभावसे ही भारतका अधःपतन

निर्विवाद सिद्ध होचुका है; तो उसके बच्चोंके पढ़नेके लिये किसी नीति शास्त्रीय पुस्तकमें इस गुणका न होना कितना बुरा न समझा जायगा। इसी परिणामपर विचार रखकर यह ग्रन्थ लिखा गया है और बाहिरी बनावचुनाव व शब्द रचनापर इतना ध्यान नहीं दिया गया।

यथासम्भव इसमें समस्त बातें जिनका नीतिशास्त्रसे प्रगाढ़ सम्बन्ध है समाविष्ट की गई हैं तथापि ग्रन्थ बढ़ जानेके भयसे त्योहार आदि अनेक उपयोगी विषय रह भी गये हैं। मुझे आशा है कि विद्वान्‌लोग दोनों खण्डोंको पढ़कर उनकी सब प्रकारकी त्रुटियोंसे मुझे पत्र द्वारा सूचित करेंगे जिससे दूसरी-बार जब दोनों खण्डोंको और विषय बढ़ाकर फिर छापा जाय तो वही दोष न रहें।

और जो कोई विद्वान् इसकी समालोचना करता हुआ नया ग्रन्थ पूरा व उपयोगी लिखेगा तो मैं उसका और कृतज्ञ हूंगा, क्योंकि मुझे दूसरीवार छापनेका कष्ट न उठाना पड़ेगा।
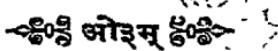
इस पुस्तकमें संस्कृत न जाननेके कारण, मैंने सम्भव है कि संस्कृत व्याकरणकी बहुतसी भूलें की हों इसके लिये मैं औरोंकी भांति क्षमा नहीं मांगता, अलबत्त वह सहायता मांगता हूं जिससे दूसरीवार यही भूलें न रहने पावें।

अन्तमें मैं गङ्गाप्रसाद रामकुमार प्रभृति अपने शिष्यों और डा० दुर्गाप्रसाद आदि मित्रोंके प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकाश करना आवश्यक समझता हूं क्योंकि इन्होंने पुस्तककी प्रतिलिपि तय्यार करने व प्रूफ देखनेमें और छपवानेमें बड़ा श्रम उठाया है।

रामनवमी } लेखक,—
१९७१। } राधामोहन गोकुलजी (रांचे)

खण्ड दूसरा।

पाद तीसरा।

मण्डल प्रथम—अनुवाक १

मंगलाचरण।

भूमि हमारी। प्राण पियारी।

जो न कहै जन, प्रेम प्रफुल्लित।

ऐसा मरासन, बुद्धि असङ्गत॥

है क्या कहीं। कहो तो सही।

अचम्भा भारी॥ १॥

बहु देश फिरा। निज भूमि फिरा।
नहिं हीय जला, दुक प्रेमानल।
कहिये तो भला, वह कूट अचल॥
मनवाला नर। है मूढ़ किधर।
दुष्ट आचारी॥ २॥

लहि नाम बड़ा। अभिमान भरा।
धन भी पाया, यद्पि यथेष्ट।
धिक् धिक् माया, खल गुण श्रेष्ठ॥
कवि गुण धाम। न लेंगे नाम।
छी (छी) तनधारी॥ ३॥

मिथ्या जीवन। धी बल यौवन।
नाम गंवाया, जो जीते दम।
क्यों जग आया, अन्ध अधम॥
जो द्विगुन मरा। क्या काम सरा।
आपाधारी॥ ४॥

जिस थल धूर। से उपजा कूर।
उसी ग्रामके, सब नरनार।
श्वान सींगसे, देयं बिसार॥
ज्यों वर्ण असत। त्यों नाम मिटत।
(हो) नर या नारी॥ ५॥

(राधे)

नीति-दर्शन।

हम ऊपर देख चुके हैं कि हमारे ऊपर ईश्वर और जगत्के प्राणियोंके प्रति कर्त्तव्योंकी आवश्यकताका भार उस ईश्वरी प्रेमके कारण पड़ता है जिसके वास्ते हम बाध्य हैं। हम अपने नैतिक गठनसे ही बाध्य हैं कि अपने सहवर्ती प्राणियोंको ही नहीं वरन् भविष्यमें होनेवाले प्राणियोंमें भी स्नेह-भाव रक्खें क्योंकि वह सब हमारे प्रेमके पात्र हैं, इनसे प्रेम करनेकी परमात्मा बलपूर्वक हमें आज्ञा देते हैं। पुनः हमारा धर्म्म है कि हम अपने पितरों (माता पिता) को प्यार करें और हमारे पितरोंका हममें वैसा ही प्रेम है जैसा कि हमारे दूसरे भाइयोंमें, तो हम बाध्य होते हैं कि अपने भाइयोंसे पूरा प्रेम करें, नहीं तो इस अंशमें हम अपने पितरोंके मन दुखानेके हेतु होते हैं जो कि ठीक नहीं। अर्थात् पैतृक सम्बन्ध हमें परस्पर भाइयोंसे प्रेम करनेको बाध्य करता है।

मनुष्यका पारस्परिक सम्बन्ध एक अनिवार्य्य समता सम्बन्ध है, यह समता स्थिति-समता नहीं, किन्तु स्वत्व समता है।

प्रत्येक मनुष्य एक स्पष्ट भिन्नरूपसे अपने कृत्योंका दायी व्यक्ति है, हरेकको परमात्माने अपने मरजीके अनुकूल नियमानुसार सुखके साधन दिये हैं और उन साधनोंकी उन्नतिका अवसर दिया है। किसीको उसने धन, किसीको बुद्धि, विद्या, किसीको बल और स्वास्थ्य दिया है—यह दान प्रमाणमें एक बराबर नहीं, विभिन्न हैं। इन बातोंके देखते मनुष्यजाति सम्भवतः महान् विचित्रताका दृश्य है। जहांतक प्राकृतिक लाभोंका सम्बन्ध है, हमें कठिनतासे दो व्यक्तियां ऐसी मिलती हैं जो दो मत्यन्त अनमान दशामें न पैदा हुई हों।

किन्तु जब हम दूसरे प्रकाशमें देखते हैं तो सब ही ठीक समान दशाओंमें स्थित किये गये हैं। हरेक पृथक व्यक्ति अपने ईश्वर-प्रदत्त लाभोंको ठीक उसी तरह काममें लानेको सिरजा गया है जैसे कि कोई एक दूसरा। यह बात स्वभावसे ही ऐसी प्रत्यक्ष है कि किसी तर्ककी आवश्यकता नहीं। एक मात्र बात जिसके आधार पर कोई स्वत्वकी असमताका विवाद कर सकता है, दशा या स्थितिकी असमानता ही हो सकती है। यह पूर्व जन्म कृत कर्मोंके फलके कारण होती है लेकिन प्रत्यक्ष है कि इसके सबबसे स्वत्वमें कोई विचित्रता या विभिन्नता नहीं हो सकती। चाहे मैं अपने कर्म फलसे अन्धा या धनवान होऊं पर इससे मुझे यह स्वत्व नहीं है कि अपने आंखवाले पड़ोसीको अन्धा कर दूं या वह निर्धन है तो मेरा धन छीन ले। अपने बलसे विद्यासे या और किसी योग्यतासे चाहे शारीरिक हो या मानसिक, प्रत्येक व्यक्तिको सुख भोगनेका एक समान स्वत्व हैं पर दूसरेके सुखमें बाधक होनेका कोई अधिकार नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि दशा या स्थितिका महत्त्व, स्वत्व महत्त्व भी प्रदान करता है तो इसमें प्रत्यक्ष विरोध दीखता है। जो हम तर्कके निमित्त इसे सत्यही कल्पना करलें. तो प्रत्येक प्रकारका दशा-महत्त्व (Superiority of condition or position) तदनुरूप स्वत्व महात्त्व भी दान करेगा। शारीरिक शक्ति महत्त्व महत्त्वप्रामाणानुरूप उसी तरह और उतना ही स्वत्व महत्त्व देगा जैसा और-जितना बुद्धि या धन महत्त्व। सुतरां जो अ-को बुद्धि महत्त्वाधारपर क-के ईश्वर प्रदत्त सुखसाधनोंको हानि पहुंचाकर निज सुख साधनका स्वत्व हो तो, क-को भी अ-के ऊपर वही स्वत्व शारीरिक महत्त्वाधारपर प्राप्त

होगा और 'ख' एक तीसरे ही महत्त्वके आधारपर दोनोंपर ही एक स्वत्व, जैसा ऊपर कहा गया, रखेगा इसी तरह अगणित योग्यताओंके अगणित महात्त्वोंसे असंख्य अप्राकृत स्वत्व उत्पन्न हो जायंगे और उनमें महत्त्वकी कमी बेशीके अनुसार स्वत्वोंमें भी तारतम्यता अवश्य होगी; साथ ही यह बात भी होगी कि धन या बलके घट या बढ़ जानेसे स्वत्वोंमें भी तदनुसार परिवर्तन होगा। जिसका अर्थ यह होगा कि प्रत्येक मनुष्यका एक न्यारा ही स्वत्व पैदा हो जायगा और वह स्वत्व दूसरेके स्वत्वको बिलकुल नाशकारक भी होगा तो हम नहीं समझ सकते इसको कौनसा क्रम नाम दैना चाहिये और इस कथनका मतलब भी समझना हमारे वास्ते तो असाध्य है। जो लोग कहते हैं कि स्थिति-महत्त्व स्वत्व-महत्त्व प्रदान करता है वही इसका अर्थ जानते होंगे। हम तो इसका सार अराजकता या असामाजिकता या पाशविक आदर्शका निमित्त ही भान करते हैं।

अच्छा अब हम प्रकाशान्तरसे मनुष्यजातिको देखते हैं या इसपर दूसरे ही विचार विन्दुसे ध्यान देते हैं।

(१) हम सब मनुष्योंमें वही एकसी ऐहिक वाह्य वासनाएं तृष्णाएं या एषणाएं ज्योंकी त्यों एक समान देखते हैं और यह भी देखते हैं कि इनकी पूर्तिजन्य सुख भोगनेकी सबमें योग्यताएं भी समान ही हैं। यद्यपि हम यह न कहेंगे कि इनमें तारतम्यता नहीं होती किन्तु कोई मनुष्य इनसे नितान्त रहित नहीं होता और उनके सुखका आधार भी इन्हीं वासनाओंकी तृप्तिपर होता है।

(२) यह वासनाएं और तृष्णाएं जहांतक इनका न्यारा ही सम्बन्ध है असीम हैं और हठात् बना ली गई हैं। और

इनकी तृप्ति इन्हें कम नहीं करती वरन संख्या और आकारमें इन्हें समुन्नत ही करती जाती है। यह बात धन, बल, हुकूमत, पुत्र, कलत्र, नशेबाजी, लम्पटपन जुआ और भिखमंगी सब ही बातोंमें प्रत्यक्ष देखते हैं।

(३) यह एषणाएं दूसरोंके सुख साधनमें बिना बाधा दिये भी सन्तुष्ट की जा सकती हैं। हम अपनी धनकी तृष्णाको मेहनत और मितिव्ययसे भी शांत कर सकते हैं और दूसरेके साथ बेइमानी और छल या कैतव न रचना पड़ेगा। इसी तरह विद्या और शारीरिक बलादि सम्बन्धमें भी हो सकता है। चोरी, छल ,बलात्कार धीङ्गाधीङ्गीसे भी होती हैं। हम स्वयं बलिष्ट होकर भी अपनी रक्षा कर सकते हैं और दूसरोंके अधिकार हथियाराधीन कर उन्हें लूला लंगड़ा बनाकर भी।

(४) अब जिस पारस्परिक सम्बन्धमें मनुष्य स्थित है उसे देखें तो प्रत्येक व्यक्ति इस इच्छाके साथ बना है कि वह स्वसुख साधनोंको जो उसे परमात्माने दिये हैं काममें लावे और ऐसी रीतिसे काम लेवे कि बहुत अच्छीतरह अपने सुखोंकी वद्धि कर सके और इस रीतिकी व्यवस्था करने वाला आप ही है। चाहे तो वह दूसरोंके सुखोंमें बाधक न होकर अपनी इच्छाओंको सन्तुष्ट करे चाहे शारीरिक बल द्वारा दूसरोंपर अत्याचार करके। पर याद रहे कि यही अधिकार दूसरे व्यक्तियोंको भी है जो आज बलके कारण कृष्ण गौरको सताकर अपनी तुष्टि प्राप्त करता है तो कल गौर बलिष्ठ होकर कृष्णपर भी इसी प्रथाका अनुसरण कर सकता है।

(५) इस सम्बन्धसे प्रकट है कि हरेक मनुष्यका धर्म है कि वह अपने सुखोंका अनुकरण केवल उसी रीतिसे करे जो उसके पड़ोसीके उन समान स्वत्वोंमें बाधक न हो जो उसे

परमात्माने दिये हैं। क्योंकि इसीमें सबका साधारण समान सुख साधन हो सकता है और अपने स्वत्वोंके सम्भोगकी समान शक्ति और उनके व्योहारके समान अधिकार देनेसे ईश्वरेच्छा भी ऐसी ही बोध होती है।

हमारे जीवनका यह नियम और कई विचारोंसे भी स्पष्ट हो सकता है।

(१) प्रथम तो अत्याचारीका सुख बढता नहीं पर अत्याचारितके सुखोंमें कमी हो जाती है, ऊपर इस बातको दिखलाया जा चुका है। फिर इस सर्व सुख साधक व्योहार प्रणालीके माननेसे जो सुख हमें होना सम्भव है पूर्णतया प्राप्त भी होता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर प्रदत्त गुणों और योग्यताओंका पूरा पूरा लाभ उठा सकती हैं।

(२) जो मान लें कि पड़ोसीके स्वत्वोंके आदर करनेका कठोर कर्त्तव्य हमें बाध्य नहीं करता तो यह तो बतलाओ कि इसकी सीमा कहां होगी? जो अन्याय थोड़ासा किया जाना उचित समझा जाय तो अत्यन्त क्यों नहीं? जो एक स्वत्वमें हस्ताक्षेप किया जाय तो सारों ही में क्यों नहीं? और जब सब आदमी एक ही नियमान्तरगत आते हैं तो क्या यह सिद्धान्त जैसा हमने ऊपर कहा सबको ही उसी कुतर्क और बेहूदगी (absurdity) में एक समान न डाल देगा? और सब जगह, सब व्यक्तियोंमें वासना दुःख फैलानेका कारण न बनेगी?

(३) जो यह कहा जाय कि एक वर्ग विशेषके आदमी दूसरे वर्गके लोगोंके प्रति इस बातके लिये बाध्य नहीं हैं, तो यह बात सिद्ध करनी होगी कि दोमेंसे एक वर्गके लोग मनुष्य नहीं हैं क्योंकि उक्त सिद्धान्त मनुष्य और मनुष्यके बीचमें एक समान प्रयुक्त होते हैं और केवल मनुष्य होनेकी ही इतिवृत्ति

उसपर यह प्रतिबन्ध या कर्त्तव्य आरोप करती है और रक्षाके लिये कर्त्तव्य बन्धनसे बांधती है।

क्या वे प्राणी जो मनुष्यसे छोटे दरजेपर हैं जो बुद्धियुक्त नैतिक कर्त्ता होते तो हमको उनके साथ भी अन्योन्य सम्बन्ध नियमानुकूल क्या न वर्तना पड़ता? और जो वे भी योग्यता महत्त्वसे स्वत्वका समर्थन करने लग जाते तो हमें चाहे जैसा नाच नचाते। बन्दर मनुष्यसे अधिक चतुर होता तो कोई कारण नहीं दीखता कि क्यों वह मनुष्योंपर हुकूमत न करता और हमें पकड़ पकड़कर अपने वास्ते बेरें और अनेक जङ्गली चीजें अपनी रुचिके अनुसार बेगारमें न बिनवाता। क्या कोई कारण है कि फरिश्ते, देवता या जबरदस्त लोगोंको प्राकृतिक महत्त्वके प्रतापसे हमारे स्वत्वों वा सुख साधनोंमें जो हमें परमात्माने दिये हैं बाधक हों। अतः समस्वतर्कानुसार या समतान्यायकी दृष्टिमें तो स्थिति या दशाका महत्त्व किसी व्यक्तिको कोई किसी दूसरी प्रकारके प्राणीपर जो नीति और बुद्धि विवेकादिमें नीचा हो कोई महत्त्व नहीं प्रदान करता। यह निर्विकल्प स्वयं सिद्ध बात पाठकोंको गम्भीर विचारसे बारम्बार पढ़करके विश्लेषण और विच्छेदक तर्क द्वारा मनन करनी होगी और तत्त्वानुसन्धान करना होगा। एक ही तर्क अनेक स्थानोंपर काम देता है। यहां जो बात हमने बतलानेकी चेष्टाकी है वह भावबाचक सर्व देशी तर्क है, इससे किसी निश्चित विषयपर विचार करके भी यथार्थ फल निकाल सकते हैं।

यदि कोई दुष्ट प्रकृति कहे कि परमात्माने प्रत्येक पृथक व्यक्तिको उन सुख साधनोंपर जो उसने उसे दिया है पूरा अधिकार भी दिया है तो हमारा प्रश्न है कि सबसे बड़ा

प्रमाण कौन है? स्रष्टाका प्रदान या स्रष्टिकी वासना और तृष्णा। क्योंकि इन्हीं भावोंमें बड़ी प्रतिद्वन्द्विता पड़ती है। हमारे कहनेका भावार्थ यह है कि ईश्वरका प्रदान और उसकी मर्जीके अनुकूल हमारी वासनायें परिमित होनी उचित हैं, अथवा हमारी वासनाओं और तृष्णाओंको उचित है कि उसके प्रदानको नष्ट भ्रष्ट कर दें व परमात्माकी मर्जीकी प्रतिद्वन्द्विता करें और न मानें? यह वह प्रश्न है कि जिसपर नीति निपुण और सविवेक चतुर प्रजामें कभी मतभेद हुआ, और न हो। हमें धर्म्म ग्रन्थोंमें मिलता है। आत्मवत् सर्व भूतेषु यः पश्यति स पश्यति। महाभारतमें व्यास देव बतलाते हैं कि दूसरेसे जैसे बर्तावकी इच्छा करते हो ठीक वैसा ही बर्ताव तुम प्रजाके साथ करो। अब हम देखें कि यह शिक्षाएं किसके लिये हैं, वह कौन प्राणी है वा सहवर्ती प्रजा अथवा पड़ोसी है और इस शिक्षामें सार क्या है? यहांपर किसी अदूरदर्शीकी भांति मनुष्योंसे ही अभिप्राय नहीं लिया गया प्रत्युत प्राणीमात्रसे, इसी वास्ते "भूतेषु" शब्द आया है। अर्थात् न केवल मनुष्य मनुष्यको बिना रङ्ग, रूप, देश, जाति आदि भेदके मित्र और शत्रु दोनोंसे प्रीति करे, वरन प्राणी मात्रको उसी तरह जाने जैसे अपनी आत्माको, यह महत्व प्राच्य अनुपम शिक्षाका है। हमने दूसरे पादमें एक वेद मन्त्र दिया है जिसमें मित्र अमित्र दोनोंसे अभय होनेकी प्रार्थना करना हमें सिखलाया गया है। क्या कोई किसीका अनिष्ट करके भी अभय हो सकता है? कभी नहीं। इसका भाव है कि हमें ईश्वर वह धार्म्मिक योग्यता दें कि हमारे साथ अज्ञानसे जो शत्रुता रखते हों वह भी हमारे भयका कारण न हों।

अब देखिये कि 'आत्मवत्' शब्दका क्या प्रयोजन था? तो यहां स्वत्व, योग्यता, वासना, आकांक्षा, तृष्णा, धर्म्मानुराग इत्यादि जो कुछ भी हमारे गठनमें हैं दूसरे भाईके भी गठनमें हैं। यदि हम अपने किसी दोष या गुणकी रक्षा चाहते हैं तो दूसरेकी क्यों न चाहें? यही बात दिखलाई है, इसकी व्याख्या बड़ी ललित लाभप्रद और शिक्षाजनक है पर स्थानाभाव और बढ़ता हुवा शारीरिक रोग हमें पदे पदे बाध्य करता है कि हम विस्तारको छोड़कर ग्रन्थकी शीघ्र समाप्तिकी ओर दत्त चित्त हों।

आर्य्योंके दश नियमोंमेंसे दो नियम बहुत विचारणीय हैं। नियम सं० (४) निष्पक्ष होकर सत्यके ग्रहणमें सर्वथा तत्पर रहना। नियम सं० (६) संसारका उपकार आर्य्योंका मुख्य उद्देश्य है।

इनसे ही हमें मालूम हो जाता है कि धर्म्म मनुष्यका वह है जो सार्वभौमिक और सर्व हितकारक हो, नहीं तो वह ईश्वरीय धर्म नहीं हो सकता। हमको बहुत ही कोमलताके साथ दूसरोंके स्वत्वोंको रक्षा करनी चाहिये। स्वार्थी जीवन ही पशु जीवन है। पुनः एक बात इससे और निकलती है कि हम दूसरोंके साथ सर्वथा नेकी और भलाई करें, दूसरोंके शुभेच्छु हों वे चाहे जैसे हों। पर इसके यह अर्थ नहीं हैं कि अधिकांश सृष्टिके प्राणियोंको दुख देनेवाले दुष्टोंके साथ भी वैसे ही बर्तें जैसा कि साधुओंके साथ। नहीं, हम इन दुष्टोंके भी शुभेच्छु हों; पर इनके साथ हमारा हित साधन यही है कि शिक्षासे, दण्डसे इनको सन्मार्गपर लावें न आवें तो इनको इस योनिसे मुक्त कर दें कि वे दूसरी योनिमें जाकर अपने किये पापोंको भोगें और अधिक पाप संग्रह न करें। हमारा

धर्म्म कहने और करनेमें एकसा हो यह नहीं कि दूसरोंसे कहें कि जो तुम्हारे एक गालपर थप्पड़ मारे तुम दूसरा भी फेर दो पर आप लूट खसोट, हत्यारापन, बेइमानी, झूठ और पक्षपातका आचरण करते फिरें। हमें देखना होगा कि हमारे कर्म हमारे कथनके अनुसार ही हैं ? जो आचरण नहीं करता किन्तु मुखसे अच्छी बातें बकता है, वह ठग है—उसकी बातका कुछ प्रभाव नहीं होता ; विद्वान उसकी कभी प्रतिष्ठा नहीं करते ; उसका, आत्मघाती, लबाड़ी जानकर सदैव तिरस्कार ही करते हैं।

क्या एक आदमीका मारना पाप है पर भाड़ेके हत्यारोंको साथ लेकर अगणित ईश्वरके दासोंका रक्तपात महान् पाप नहीं है ? क्या दो चारका मिलकर एक घर लूटना डाका है पर देशका देश तबाह करना, लूट लेना, भाड़ेके दुष्ट भरती करके लाखों करोड़ों घरोंपर डाका मारना डाका नहीं है ? अन्तर है तो यह है कि छोटा डाकू सलज्जा होता है उसे अपने कामसे कुछ लज्जा, घृणा और भय होता है ; दूसरी दशामें बड़ा डाकू घमण्डी, दुष्ट, निर्लज्ज, निर्भय होता है। एक अपनी दुष्कृतिपर पश्चात्ताप करता है दूसरा अपने पाप कर्म्मोंपर अहमित होता है।

अन्योन्य नियमजन्य कर्त्तव्योंका क्रमबद्ध विभाग यों कर सकते हैं।

१—मनुष्यके प्रति मनुष्यका मानवी कर्त्तव्य।

२—लिङ्ग-भेद-जन्य पारस्परिक कर्त्तव्य।

३—सभ्य सामाजिकता-जन्य कर्त्तव्य।

प्रथम क्रममें स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, चलन और प्रतिष्ठा तथा सत्यगत न्यायकालीन व्यवस्था सम्मिलित है।

दूसरेमें ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ्य—विवाह व माता पिता और सन्ततिका पारस्परिक कर्त्तव्याकर्त्तव्य ।

तीसरेमें पांच छः बातें सामान्यतः हो सकती हैं—जैसे (१) सामाजिक सभ्य-स्थिति। (२) इसके स्थिर रखनेके उपाय। (३) राजा प्रजा। (४) राज कर्म्मचारी। (५) सभ्य प्रजा।

द्वितीय अनुवाक ।

"न्याय और सत्य"

कृत्यानुसार दण्ड या पारितोषिक प्रदान करनेका स्वभाव जो मनुष्यमें है उसीका नाम राज्य सम्बन्धमें न्याय है। जो इस कार्य्यको सम्पादित करता है वह ही न्याय मूर्त्ति वा धर्मराज वा न्यायाधीश कहलाता है। छोटे बड़ेके विचारसे यह पद अनेक होते हैं। इस दर्शनमें यह शब्द कुछ वृहत् विस्तारितार्थमें हम लेते हैं अर्थात् सर्वशक्तिमान परमात्माने हमें जो स्वसुख-साधक योग्यताएं दी हैं उन्हें प्रत्येक मनुष्यको स्वच्छन्द भोग करने देनेका मानसिकभाव न्याय है। इसके द्वारा मनुष्य आप भी ससुख जीता है और तदनुसार ही दूसरोंको भी जीवन अतिवाहित करने देता है, इस भावका प्रकट वाह्य आचरण ही न्याय कहा जाता है। जैसे जब कोई दूसरेके स्वत्वोंकी प्रतिष्ठा करता है तो हम कहते हैं कि वह न्याय करता है और जब दूसरेके स्वत्वोंको भङ्ग करता है या उनका बाधक होता है. तो हम उसे अन्यायी कहते हैं।

परमावश्यक और ग्राह्य सुखोंके द्वार जो परमात्माने प्रत्येक व्यक्तिके हस्तगत किये हैं पांच हैं। देह, सम्पत्ति, आचार, व्यवहार और प्रतिष्ठा।

व्यक्तिक स्वातन्त्र्य—प्रत्येक मनुष्य स्वरूपसे ही एक पृथक् स्पष्ट और पूर्ण अत्रुटि निबन्ध है जो आत्म-शासन (स्वराज्य) के योग्य बना है और पृथक् ही परमात्माके सामने इस बातका उत्तरदाता है कि उसने अपनी योग्यताओंसे किस तरह काम लिया। तदनुकूल ही प्रत्येक जनको एक शरीर मिला है इसीके द्वारा वह भौतिक संसारसे सम्बन्धित है और इसीके द्वारा यह जगत उसकी चाहनोंके जुटानेके लिये विकसित हो रहा है। वह समझ है जिससे कि सचाई दरयाफ्त होती है और उसीके आधारपर समुचित परिणामपर पहुंचनेके साधन किये जाते हैं, तृष्णाएं और वाञ्छाएं हैं, जिनसे वह काम करनेकी ओर प्रवाहित होता है और इन्हींकी परितुष्टिमें उसे आनन्द होता है, अन्तरात्मा है, जो यह बतलाती है कि किस सीमातक यह इच्छाएं धर्म्मानुकूल सन्तुष्ट की जा सकती हैं और इच्छा शक्ति है, जो इसे कृत्य करनेकी ओर दृढ़ करती है। वाञ्छा और इच्छा शक्तिमें बहुत महीन अन्तर है। इच्छा शक्ति जिसे पाश्चात्य Will power वा Will Factor कहते हैं और जिसकी शक्ति बड़ी अपार और अतुल है कई स्थलपर हमारे यहांके विद्वानोंने इसे मन भी कहा है। उक्त कतिपय बातोंका मनुष्यमें होना आवश्यक और आवश्यक ही और इन्हींकी प्रस्तुति मनुष्यको पृथक और स्वतन्त्र व्यक्ति बनाता है। यदि उसे समाजकी आवश्यकता है तो वैसे ही दूसरोंको भी समाजकी जरूरत है। अतः प्रत्येक व्यक्ति समाज गठनमें प्रत्यक्ष और दृढ़ अन्योन्य समानता सम्बन्ध लेकर अङ्गीभूत होता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति इन शक्तियों वा योग्यताओंको ईश्वर संयोजित नियमानुकूल काममें लावें तो सदा उन्हें निर्दोष प्रमाणित करता है। यदि यह

(व्यक्ति या समष्टि) दूसरोंको इन्हीं योग्यताओंके स्वच्छन्द व्यवहारमें बाधक नहीं होती तो वह अपने पड़ोसीके स्वत्वों की प्रतिष्ठा करती है, और इसलिये वह (व्यक्ति या समष्टि) ईश्वरकी दृष्टिमें अनघ है। जहांतक इन योग्यताओंके प्रयोगमें समिति क्रमण नहीं होता वहां उसे अधिकार है—जहांतक उसके सहवर्ती प्राणियोंका सम्बन्ध है—कि इन्हें स्वेच्छानुकूल स्वच्छन्दतासे स्वतंत्रता पूर्वक जितना चाहें जैसे चाहें काममें लावें। उसकी इच्छा शक्ति ही उसकी यथेष्ट और अन्तिम सूत्रधर है। इस अवस्थामें वह सहवर्ती बान्धवके सम्मुख तो दायी न होगा पर ईश्वरके सामने वह इस दशामें भी दायित्वसे मुक्त नहीं हो सकता जैसे आत्मघात इत्यादि कृत्योंमें।

प्रत्येक मनुष्य अपने शरीर, मन, बुद्धि आदिको स्वेच्छानुकूल स्वतन्त्रतासे प्रयोग करनेके लिये स्वतन्त्र बना है यदि किसी दूसरे व्यक्तिकी हानीका कारण न हो तो—हां, यदि किसी अन्य ईश्वरी आज्ञाको भङ्ग करता होगा तो वह ईश्वरका अपराधी होगा परन्तु समाजका उसपर कोई दायित्व नहीं होता, यह बहुत स्पष्ट बात है अधिक तर्ककी आवश्यकता नहीं। जो मनुष्यकी इस स्वाभाविक और ईश्वर-प्रदत्त स्वन्तत्रतामें बाधा डालता है वह पापी, दुष्ट और आततायी है। यदि एकको दूसरेकी इच्छापर अधिकार है तो कोई भी अपनी इच्छाका अधिकारी न रहेगा और सब उत्तरोत्तर दूसरेकी इच्छापर अधिकृत हो जावेंगे और इसीको समाजबन्धन कहते हैं इसी बन्धनके उचित होने न होनेका विचार नीति है। इस बन्धनकी सीमा है। यदि यह कहा जाय कि कोई बिना अपनी इच्छाके दूसरेकी इच्छाके अधिकार हो सकता है

तो यही इसका उत्तर है कि यहां इच्छा शब्दके अर्थान्तरमें गोलमाल किया गया है।

हरेक आदमीको देखना है कि परमात्माने किन किन कामोंके करनेके लिये शरीर बनाया है। मनुष्य जो पसन्द करता है वही करना चाहता है लेकिन वह बाध्य होता है कि उसीतरह पर आचरण करे जो उसके समाजके लोग प्रशस्त समझकर स्थिर करें नहीं तो उसे सामाजिक दण्ड भोगना पड़ता है। अब ठीक दशा मनुष्यको वह है जिसमें उसकी इच्छा और किसी बातसे प्रवाहित नहीं होती सिवा उसके जो कि उसमें ईश्वरीय गठनसे पैदा होती हैं। और जो कोई अपने सुखोंके निमित्त अपने सहवर्ती प्राणियोंको किसी दूसरी जीवन दशामें उपस्थित करता है वह घृणित अत्याचार (जुल्म) का दोषी होता है और ईश्वरकी आज्ञाका भङ्ग करने वाला अभिमानी प्रतीत होता है।

लेकिन हम कह सकते हैं कि क्या सब दशामें यह व्यक्ति समाजके सम्मुख दोषी ठहराया जा सकता है। हम इसका उत्तर देंगे कि यदि समाज उस दोषको हाथमें न ले तो ऐसा नहीं भी हो सकता। परन्तु जो प्रत्येक आदमी स्वन्तत्र छोड़ दिया जाय तोभी उसका कर्त्तव्य है कि वह दूसरोंके स्वत्वोंकी प्रतिष्ठा करे और जो वह उनकी प्रतिष्ठा न करे तो निबन्धके नियमोंमें ही इसका इलाज भी परमात्माने बनाया है। हम ऊपर कह चुके हैं कि मनुष्य भी एक निबन्ध (System) है। यदि वह श्रम न करे तो वह भूखा मर जायगा यदि वह भूखा मरना ही स्वीकार करले पर श्रम न करे तो यह उसका निजका दोष है दूसरे किसीपर इसका दोष नहीं लगाया जा सकता।

जब अन्योन्य सम्बन्ध नियम उसे समाजसे स्वतन्त्र करता है तो समाज भी उसके कामोंके उन प्रभावोंसे जो उसपर पड़े सर्वथा अनुत्तरदायी होता है और सामाजिक दायित्वसे मुक्त होता है।

यह अन्योन्य सम्बन्ध नियम जितना ठीक ठीक व्यक्ति सम्बन्धमें पाया जाता है और लग सकता है, उतना ही घुमकर समष्टि या वर्ग सम्बन्धमें भी लगता है।

पाठक जानते हैं कि समष्टि व्यक्तियोंसे बनती है और परस्पर सिवा उन अधिकारोंके जो व्यत्यान्तरगत हैं दूसरे अधिकार समष्ट्यान्तरगत नहीं हो सकते। जब एक व्यक्तिका दूसरेको सताना पाप है तो एक वर्ग, वर्ण या जातिका भी दूसरे वर्ग वर्ण या जातिको सताना वैसा ही पाप है। जब एक आदमी एक दूसरेका गला काटता है तो वह हत्यारा है जो दश मिलकर दूसरे दशका गला काटते हैं, तो क्या वे हत्यारे नहीं हैं? जरूर हैं। ऐसे ही जातियोंका हाल जानो। एकसी दशाएं दोनों अवस्थाओंमें स्रष्टाकी मर्जी एक ही है। परमात्माने व्यक्तियोंकी भांति जातियोंमें भी शारीरिक बल और बुद्धिमत्ता भिन्न भिन्न प्रमाणमें दी हैं, पर उनके लाभोंके लुमनेके लिये सबको स्वत्व समान ही दिये हैं। दोनों अपने निर्दोष सुखोंका साधन अपनी रक्षा एक समान कर सकते हैं। यदि हमको दूसरा अपनी हानि करता देख मारनेका अधिकार रखता है तो हमें भी निस्सन्देह दूसरे दुष्टके खूनसे धरती सींचनेका पूरा प्राकृतिक स्वत्व है। इसी तरह सुख पहुंचानेमें भी।

देखो जब एक देशका दूसरे देशके साथ वर्ताव हो, सबल निर्बलमें बर्ताव हो, मूर्ख पण्डितमें हो वा सभ्यासभ्यमें हो,

मित्र मित्रमें हो वा अमित्रामित्रमें अथवा अमित्र मित्रमें, सब ही अन्योन्य सम्बन्ध-नियमसे वाधित हैं कि परस्पर आत्मवत् प्यार करें, एक दूसरेके साथ वैसा ही बर्ताव करें जैसा कि वे अपने साथ किया जाना चाहते हों।

हम अपने देशपर, घरपर दूसरेका अधिकार धींगाधींगी नहीं चाहते तो हमें दूसरेके देश, भूमि, घरपर भी अधिकार करनेका कोई स्वत्व नहीं है। जो हम अपनी स्त्रियोंका, पूज्य पुरुषोंका, सजातियोंका, अपने नियमोंका अपमान किया जाना नहीं देख सकते, तो हमें भी कोई स्वत्व दूसरोंकी इन्हीं चीजोंको अपमानित करनेका नहीं है। हम अपने कृत्यों की, दोषोंकी छानबीन, आलोचना, व्यवस्था जिनसे नहीं चाहते हैं हमें भी कोई अधिकार नहीं कि हम उन लोगोंके ऐसे ही कामोंमें अपना हस्ताक्षेप करें। और जब जब जहां जहां इस ईश्वरीय अटल नियमको भङ्ग किया गया है, ईश्वरी प्रजामें भयानक विरोध फैला है, रक्त पात हुये हैं। अतः इसका विरोध सब पृथ्वी मन्डलके मनुष्योंको छोड़ देना चाहिये। यह अस्वाभाविक बात कभी चल नहीं सकती, निर्बलता भय आदि थोड़े दिन रहते हैं अन्तमें समानता सबको एक ही सम धरातल पर ला छोड़ती है। किसी कविने कहा है कि जब मन एक बार अत्याचारको अत्याचार करके जान लेता है तब फिर अनेक दिन उसे सहन नहीं कर सकता, अवश्य उस अत्याचारका, सच्चा हो या कल्पित अन्त होना ही होता है। इसीके बाबत एक पाश्चात्य कविने कहा है कि जब स्वातंत्र्य-समर एक बार आरम्भ हो जाता है तो बन्द नहीं होता घायल पिता पुत्रको सौंप जाता है और अनेकों

बार हार भी होती है पर अन्तमें प्राकृत स्वत्वेच्छुकी जय ही होती है।

हम जानते हैं कि समाज दीनों और प्रेवशोंका पालन और अत्यन्त निस्सहायोंकी सहाय करता है, किन्तु यह तो प्रतिज्ञानुसार मानी हुई बात है जिसमें मनुष्यकी इच्छा हो तो भाग लेवे या न लेवे, जो समाजके सङ्गठनमें भाग लेवेगा उसे उसके नियमोंका भी पालन करना ही पड़ेगा। जो यह समाजका दायित्व है कि किसी व्यक्ति विशेषका पालन पोषण करें तो उसका स्वत्व है कि उससे वह काम ले जिसके योग्य उसे समझे व जिसके द्वारा समाज अपने दायित्वके पूरे करनेको सामर्थ्य होता है। जो किसी समाजका अङ्ग या सदस्य होता है तो उसे अङ्गीभूत होनेके पहिले जान लेना चाहिये कि वह एक सीमा तक अपनेको समाजके हाथोंमें खुशीसे देता है और जब वह खुशीसे अधिगत हुआ है तो इस प्रबन्धकी शर्त ही यह है कि मौलिक स्वत्व व्यक्तिका व्यक्तिक ही रहता है।

२—यह बात बुद्धि सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। यदि उपरोक्त तर्क हमारा ठीक है तो फल यह होता है कि प्रत्येक मनुष्य ऊपरके कथनानुसार सीमाके भीतर अपनी इच्छाके अनुसार अपनी बुद्धिको काममें लानेका अधिकार रखता है। अपनी बुद्धिको जैसे चाहे काममें लावे चाहे जो बात खोजे, बनावे, पैदा करे अपने अन्वेषित और आविष्कृत विषयोंको जो लोग जानना सुनना चाहते हैं उन पर प्रकाश करे या न करे, प्रतिबन्ध इतना ही है कि वह किसी भांति किसीके सुखमें बाधक न हो। जैसा ऊपर कहा गया है।

जो यह कहैं कि व्यक्त इस तरहपर काम करके भूलमें भी पड़ सकता है और अपने सुखको भी आघात पहुंचा सकता

है तो उत्तर यह है कि गठनमें उचित और यथावत दण्ड भी बना धरा है। जो ऐसी भूलोंमें पड़ता है वह भूलका फल भी स्वयं सहन करता है अपनी सम्पत्ति और मर्य्यादाको खो बैठता है। उसके किसी निज कर्त्तव्यकी जिम्मेदार समाज नहीं हो सकती। व्यक्ति विशेषके सुखका विचार कोई कारण नहीं बन सकता। समाजको क्या गरज अटकी है कि किसी व्यक्तिके स्वतन्त्र सुख साधक बातोंमें हस्ताक्षेप करै यह तो उसे परमात्माने स्वतन्त्र रूपसे व्यक्तिगत दी है।

यदि इसमें पारस्परिक सुख भावसे कोई हेरफेर तजवीज करै और कहै कि क्यों समाज किसीको बुद्धि व शिक्षादिकी सहायता न दे, तो इसका साफ उत्तर यह है कि समाजका वैसा ही गठन कर लो और सब ही उसका फल उठाओ और उन नियमोंका पालन करो। जैसे पारसियोंका फण्ड है—प्रत्येक पारसीका काम है कि उसमें धन दे साथ ही प्रत्येक पारसीका अधिकार भी है कि निस्सहाय विधवा व अनाथका उसमें रखकर पालन पोषण करावे, किसीको बदचलन न होने दे भूखसे न मरने दे। जो हम सब लोग धन देकर अनाथालयोंकी भांति अन्य संस्थायें बना लें और वर्ग विशेषके लोग एक निश्चित रकम देना अपना अनिवार्य्य कर्त्तव्य जानकर दें तब तो कोई कारण नहीं है कि उनके बच्चोंकी यथावत शिक्षा दीक्षा और लालन पालन उस संस्था द्वारा न हो।

इस दशामें प्रत्येक व्यक्तिको उसके नियमोंके पालन करनेको बाध्य होना पड़ेगा। हमको आर्य्यसमाजका नियम संख्या १० बतलाता है कि "सब मनुष्योंको सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालनमें परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक निज हितकारी नियममें सब स्वतन्त्र रहैं"। समाजको अधिकार होता है

कि किसी भी व्यक्तिको क्यों न हो, अपने नियम पालनमें बाध्य करे पर यह वहीं तक होना उचित होगा जहां तक उसके परतन्त्रताकी सीमा है । जो सुख उसे समाजसे होते हैं और होने सम्भव हैं जिनके वास्ते किसी व्यक्तिने अपनेको प्रतिब-न्धित किया है वहीं तक उसे समाजतन्त्र होकर चलना होगा। समाज दो ही तरहपर ऐसे नियमोंके पालनमें किसीको बाध्य कर सकता है या तो वह उस व्यक्तिसे नागरिकता (citizenship) का स्वत्व छीन ले जो उसके नियमोंका ध्यान न रखता हो या वह उन लाभोंको सबके वास्ते समान करके अपनी आवश्य-कतानुसार यथोचित ध्यान रखनेको ही प्रत्येक व्यक्तिको बाध्य करे। इस दशामें अन्योन्यिक नियम भङ्ग न होगा क्योंकि सबकी आवश्यकतायें समान होंगी। आज मुझे एक बातका सुख या दुख एक बातसे हुआ तो कल दूसरेकी बारी भी आवेगी। और प्रत्येक व्यक्तिको उसका पूरा भाग मिलता रहेगा और नियमोंका अन्तमें सबपर समान प्रभाव पड़ेगा। कोई व्यक्ति इससे अधिककी आशा न्यायपूर्वक करे तो नहीं कर सकता, न वह न्याय सहित उन स्वत्वोंको मांग सकता है जिनमें बुद्धि या बल विशेषके होनेकी आवश्यकता है और जो दूसरोंको ही हो सकता है जो उसके योग्य हैं, जब तक वह अपनेको उसके योग्य नियमानुकूल न बना ले।

३—यहांतक तो हमने मनुष्यपर वर्त्तमान जीवन सम्बन्धसे ध्यान दिया है। जहांतक हमने कहा है हमने इस बातके दर्शानेकी चेष्टा की है कि यदि कोई व्यक्ति दूसरेके स्वत्वोंमें हस्ताक्षेपका कारण न हों तो उसे अधिकार है कि वह अपने बल और विचार दोनोंको जिसतरह अपने सुखसाधनका उत्तम हेतु समझे काममें लावे। किन्तु जब वह अपने बल समय

और विचारको इस सीमाके भीतर रखकर अपने ऐहिक सुख-सम्पादनमें लगानेका अधिकारी है तो कितना अधिक उसका अधिकार, अटल अधिकार, इस बातका न होना चाहिये कि जिसके द्वारा उसके अनन्त सुखोंकी प्राप्ति सम्पादित हो अर्थात् नित्य सुखोंके प्राप्त्यर्थ उसे इस अधिकारको काममें लानेका कितना बड़ा अटल अधिकार न होना चाहिये। जब वह अपने ऐहिक सुखोंके निमित्तोंको जो कुछ उसे परमात्माने प्रदान किया है विना बाह्य हस्तक्षेपके सम्भोग करनेका स्वत्व रखता है तो वह कितना अधिक बाह्य हस्तक्षेप रहित इस बातका अधिकारी न होगा कि वह ईश्वरीय आज्ञाओंका पालन करे और अपने उन महामतम कर्त्तव्योंको जिनके मान करनेकी उसमें योग्यता है, पूरा करे। तब हमारे इस कथनका यह अभिप्राय होता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने पड़ोसीके स्वत्वोंमें, जहांतक कि पड़ोसीके स्वत्वका सम्बन्ध हो, हस्ता-क्षेप न करके ईश्वरोपासना करने न करनेका स्वत्व रखता है और चाहे जिसतरह उसकी उपासना करे और यदि वह इस अधिकारका कुव्यवहार करता है तो उसका वह ईश्वरके सामने ही उत्तरदाता है।

जो कोई कहे कि मनुष्य इस उपासनाके अनुचित प्रयोगसे अपने जीवात्माको नष्ट कर सकता है तो हम कहते हैं कि इसका दायित्व समाजपर कैसा? पुनः 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां'—धर्मका तत्त्व या भाव हृदय कन्दरमें होता है उसपर कोई बाह्य बल किसीका किसीतरह नहीं चल सकता। अतः हमारा ईश्वरीय सम्बन्ध कोई नहीं बदल सकता। फिर किसीको धर्मभावसे बरबाद होनेसे कोई कैसे रोक सकता है? धर्म विषयमें जो किसीपर बलका प्रयोग किया जाता है तो

वह केवल ईश्वर राहपर अकारण अत्याचार है। (लिम्राही जुलेन)।

सुतरां—हमारे ऊपरके सारे कथनका सार यह हुआ कि प्रत्येक मनुष्य अपनी शारीरिक व मानसिक योग्यताओंके प्रयोगको समान स्वत्वोंके साथ सिरजा गया है, वह इन्हें ऐहिक वा पारमार्थिक निज सुखोन्नतिमें जैसे उसका जी चाहे काममें ला सकता है प्रतिबन्ध इतना ही है कि उसका कोई काम किसी पड़ोसीके (दूसरे प्राणीके) सुखोंमें बाधक न हो।

यहांपर चार बातें और विचारने योग्य हैं इन्हें नीचे देते हैं।

(१) बाल्यावस्था—इस अवस्थामें मनुष्य पशुवत होता है, माता पिताका धर्म है कि शिशुको अपनी बुद्धिके प्रकाशानुसार सद्व्यक्ति बनावें और उत्तम नागरिक युवा होनेसे पहले ही करदें। इस दशामें बालक निज स्वत्व और दायित्वको नहीं समझता इससे उसको ईश्वर प्रदत्त मानवी समान स्वतन्त्रता उसको नहीं मिल सकती। मानो यह उक्त नियमका एक अतिरेचन (Exception) है। पुनश्च माता पिताका कर्त्तव्य उस बालकके साथ है जिसके वे दायी हैं क्योंकि उस बालकके जन्ममें वे भी निमित्त कारण हैं। बच्चा जबतक अपने स्वत्व वा दायित्वको न पहचाने उसकी शारीरिक, मानसिक प्रयोग शक्तियां माता पिताके आधीन रहती हैं।

(२) जब कि माता पिताने अपना दायित्व जो बच्चेके प्रति था उतार दिया हो तो उसके बदलेमें बच्चा ऋणी है। बच्चेका दायित्व है और उसके माता पिताका स्वत्व है कि यावज्जीवन बच्चा माता पिताकी सेवा सहाय वैसा ही करता रहे जैसा कि वे चाहें। हमें ईसाई नीतिपर करुणा आती है। हा, एक ईसाई नीतिकार लिखता है।

As the parent has supported the child during infancy, he has, probably, (यह शब्द और भी लेखकके भावको ठीक कर देता है) by the law of nature, a right to his services during youth, or for so long a period as may be sufficient to insure as adequate remuneration. When, however, that remuneration is received the right of the parent over the child ceases for ever. यदि लड़का माता पिताकी सेवाका पूरा बदला दे दे तो वह सदाको ऋण मुक्त हो जाता है।

जिस जातिकी यह नीति है उस जातिको धार्म्मिक कहते हमारा तो कलेजा कांपता है। परमात्मा ईसाइयोंके धर्म्म और नीतिसे हमारी रक्षा करें। क्या बालक पिता माताकी सेवाका पूरा बदला दे सकते हैं। क्या मातर पिता वैतनिक चाकर हैं? छी!

(३) माता पिता बच्चेकी शिक्षादिका भार अर्थात् अपना पैत्रिक स्वत्व थोड़ा या सारा चाहें तो दूसरेको सौंप सकते हैं पर उसी समय तकके लिये जबतक कि वह जवान न हो—तत्पश्चात् वह हमारे उक्त विचारानुसार ईश्वर प्रदत्त स्वतन्त्रताका स्वयं स्वामी होगा चाहे पिता माताके साथ हो अथवा उनके प्रतिनिधिके। लेकिन किसी अवस्थामें अपने पैत्रिक शुद्ध पवित्र शुभचिन्तकता संयुत कामके सिवा दूसरे कामके लिये देने, सौंपने, सिखानेके अधिकारी माता पिता नहीं हैं यदि वे ऐसा करेंगे तो समाज और ईश्वरके समीप उत्तरदाता होंगे।

(४) मनुष्य स्वयं अपना परिश्रम, स्वत्व एक परिमित समयके वास्ते उचित बदलेपर दे सकता है किन्तु इसका यही अर्थ है कि वह इस ठीक (Contract) से कभी अपने ईश्वर

प्रदत्त नैतिक स्वत्वों और स्वतन्त्रतासे वञ्चित नहीं हो सकता पर किसीको दूसरेकी सेवा, चाकरी, स्वतन्त्रताके देने, सौंपने, बेचनेका अधिकार नहीं है सिवा निज बच्चे के वह भी उस समय तकके लिये कि वह युवा न हो; सौंप किसी धर्मविरुद्ध अभिप्रायसे या अधर्म कृत्यके निमित्त न हो।

निस्सन्देह परमात्माने हममेंसे प्रत्येक व्यक्तिको कुछ निज स्वत्व सहित जगत्में स्वतन्त्र बनाया है और हम स्वतन्त्र हैं। हम स्वतन्त्रता, प्राण, धर्म और सुख सम्पादक योग्यताओंके स्वयं निर्विवाद बिना भागीदार और हस्ताक्षेप करनेवालेके स्वामी हैं। यह बात स्वयं सिद्ध है इसमें सन्देहवाली बुद्धि मानवी बुद्धि नहीं हो सकती।

मण्डल दूसरा।

अनुवाक १

"स्वतन्त्रता ध्वंसन।"

व्यक्तिक स्वतन्त्रता ध्वंसनके दो रास्ते हैं। (१) व्यक्ति (२) (समाज)। प्रथम व्यक्ति लेते हैं। इस शीर्षकमें अति प्रसिद्ध स्वतन्त्रता ध्वंसनका प्रमाण या उदाहरण घरकी टहल करनेवाले दासोंमें मिलता है। घर गुलामीका प्रादुर्भाव इस सिद्धान्तपर होता है कि स्वामीको अधिकार है कि दासके बल और बुद्धिको स्वत्व रखकर उससे आप ही काम उठावे। निस्सन्देह जब हम स्वामी और सेवकके हकोंका मिलान करते हैं तो कहना पड़ता है कि स्वामीको कोई प्राकृतिक स्वत्व

ऐसा नहीं है, न दासका कोई ऐसा दायित्व है कि जिससे यह बिचारा इस बुरे वर्त्तावसे दबा हुवा अपनी ईश्वर प्रदत्त स्वतन्त्रताको खोकर गुलामगरी ही करता रहे। क्योंकि स्वामी और सेवकमें परस्पर जो सम्बन्ध होते हैं मनुष्य और मनुष्यके अन्तर सम्बन्धके समान नहीं होते, किन्तु कुछ ही कम ऐसा सम्बन्ध होता हैं जैसा मनुष्य और पशुमें होता है। इसीसे क्रीत दासोंके रखनेकी प्रथा आर्य्यावर्त्तमें कभी मुसलमानोंके आगमनके पहले न थी। अब भी बहुत कम कहीं कहीं रियासतोंमें इस मुसलमानी संघका फल देखनेमें आता है यद्दिच पाश्चात्य दुष्टताका व्यवहार भारतमें नहीं मिलता तो भी हम इसे घृणित और अप्राकृतिक कहनेसे नहीं चूक सकते।

स्वामी और सेवकका पारस्परिक वर्त्ताव प्रत्यक्ष करता है कि मानो यह दो जातिके प्राणी हैं और असमान स्वत्वोंके साथ सिरजे गये हैं। और स्वामी उन स्वत्वोंसे काम लेता है जो कि दासने कभी देना स्वीकृत नहीं किया, मानो दासको उन सुखके साधनोंपर कोई अधिकार ही नहीं है जो उसे परमपिता परमात्माने दान किये हैं। जभी इन अधिकारोंकी स्वामीको आवश्यकता हो अपने कामके वास्ते उन्हें लेलेवे। इसका तो यही अर्थ होता है कि स्रष्टाने एक व्यक्तिको इस वास्ते रचा है कि जितने प्राणियोंको क्रय कर सके उतने लेकर सबोंके शारीरिक, मानसिक, सामाक और नैतिक सुख साधनों पर अधिकृत हो जाय अर्थात् एक व्यक्तिको यह अधिकार हो सकता है कि वह चाहे व सके तो चाहे जितने मनुष्योंके सुखोंका स्वसुख साधनार्थ नाश कर डाले। यद्यपि अङ्गरेज जातिकी व्यक्तियां पहले गुलामीमें दो दो रुपयेपर बिकती रही हैं इसीसे यह इस दुखको अच्छीतरह जानते हैं और इस

दास विक्रयके बड़े विरोधी हैं तो भी पाश्चात्य प्रकृति इनके मनोंको आर्य्यवत् स्वच्छ नहीं होने देती अपनी मन्दताको ही प्रधानता देती है। हमारे देशमें यह दुष्ट प्रथा न थी न है अतः हमें इसपर अधिक लिखनेकी आवश्यकता न थी पर कई कारणोंसे हम अपने देशवासियोंको अपना विचार इस विषयमें दिखला देना ही उचित समझते हैं।

(१) गुलामोंकी प्रथासे न गुलामके सुखोंका साधन अभीष्ट होता है न स्वामी और गुलाम दोनोंके, वरन स्वार्थी और अमानुषी स्वभाव वाले स्वामीका ही सुख प्रधान होता है। यह एक तरफा स्वार्थ साधक स्वभाव और चलनवालोंकी स्वतन्त्र व्यवस्थाकी रीति स्थापक दुष्कृति मानवी स्वभावसे भिन्न होनेके कारण त्याज्य है।

(२) जब तक मनुष्य इस बातसे परिचित न हो कि वह अपने सुखके निमित्त अपने बुद्धि व बलको स्वतन्त्रतासे प्रयुक्त कर सकता है तब तक तो कुछ दूसरी बात भी कह सकते हैं, पर जब वह जानकार हो जाय और अपने सुखोंके साधनमें समर्थ हो, तो भी उसपर यही अत्याचार करते चले जाना कि वह अपने स्वामीके वास्ते अकारण अपने सुखोंका खून कर दे और मालिकके भावमें ही नहीं कि नौकर भी मनुष्य है, बड़ी घृणित बात है। मानवी मन कैसे इस प्रथाको क्षण भर भी देख सकता है? क्या किसी कुमारीका सतीत्व धनके बल उसकी इच्छाके प्रतिकूल मोल लेना मनुष्यता है? क्या एक होन-हार बच्चेको सदाके लिये अपने सुखोंके हेतु धनके अभिमानसे पशु बनाकर सेवामें रखना मनुष्य कर्त्तव्य कहला सकता है?

३—क्या वह परमात्मासे सम्बन्ध नहीं रखता फिर क्यों वह मनुष्यके हाथमें ऐसे बिक सकता है कि उसके उपासना

प्रार्थनाका समय भी पराधीन ही हो। क्या धनके बदले धर्म खरीदना और बेचना कभी प्रशस्त प्रथा हो सकती है? क्या एकके पारमार्थिक सुखका खून दूसरेके ऐहिक तुच्छ सुखके निमित्त नष्ट करना ठीक है? हम तो यही कहेंगे यह प्रत्यक्ष अप्राकृतिक और ईश्वरेच्छा विरुद्ध प्रथा सर्वथा घृणित और त्याज्य है।

५—गुलामीकी प्रथा स्वामी और सेवक दोनोंकी बुद्धिमें जड़ता पैदा करके दोनोंका अध्यात्मिक जीवन नाश कर डालती है। इससे देशके धन और नीति दोनोंपर बड़ा आघात पहुंचता है। मालिक अहङ्कार और मूढ़तावश नौकरकी इच्छाके प्रतिकूल अपने क्रोध, अहङ्कार, बेदर्दी, स्वार्थ और लम्पटपनेसे काम लेता है और अपनी आत्माका हनन कर डालता है क्योंकि प्रकृति ही उसकी इस स्वत्वसे पापिष्ठ बन जाती है। उधर नौकर बारम्बारके असद् व्यवहारसे नीति अनीतिके भेदको भूल पशु हो जाता है और झूठ, चोरी, छल, ठगी, भिखमङ्गीमें पड़कर अपनी पाशविक इच्छाओंके तृप्त करनेको विचेष्टित होने लगता है और पापियोंके गुरु घण्टाल स्वामीके समान ही बन जाता है। चाहे हमारे कथनोंका प्रमाण सौ प्रति सौ व्यक्तियोंमें न निकले क्योंकि मानवी प्रकृति भी तो भिन्न और विचित्र होती हैं पर अधिकांश हमने रजवाड़ोंमें रहकर ऐसा ही अनुभव किया है क्योंकि यह दुष्टता भारतके कायर राजपूतोंमें जहां तहां विद्यमान है। मुसलमान इस कामके गुरु थे वह तो पीछे रह गये उनके नाममात्रके चेले राजपूत गुरु घण्टाल बने बैठे हैं। रियासतोंमें अन्यत्रसे अधिक व्यभिचार फैलानेका कारण रावलेकी दासियां हैं। इनका अधिक वृत्तान्त कदाचित

हमारे देशी राजपुत्र बान्धवोंको दुःखद हो अतः हमें इतने ही से आशा है कि बुद्धिमान लोग स्थितिका लक्ष्य कर लेंगे।

५—देश धनमें इससे यों हानि होती है—प्रथम एक स्वतन्त्र प्रजा देशमें धन समृद्धिकारक कामके करनेसे वञ्चित हो जाती है, जो एक गुलाम हो तो एक, जो सौ हों तो सौ के सौ वञ्चित हो जाते हैं। दूसरे नौकरी या मजूरीका सच्चा भाव घृणित हो जानेसे यथा योग्य गरीब-लोग न काम करते हैं न काम हो ही सकता है। तीसरे जब मजूरोंका निज स्वार्थ नहीं तो काम कब ठीक होगा ? मथल है 'माल मारे धुनिया कटे पठान' हमारे गावोंमें कहा करते हैं 'खेती खसम सेती' अथवा 'बिना अपने मरे बैकुण्ठ नहीं दीखता'। इन छोटी २ बातोंको विचारकर देखो। जिसका निजका लाभ हानि सम्बन्धित होता है उससे अच्छा काम नौकर कभी नहीं कर सकता। यह हमारा मतलब नहीं कि ईश्वर-सृष्टिमें ऐसा नमूना ही नहीं है पर यह अभिप्राय हमारा अवश्य है कि प्रति सौ अस्सी घटनायें हमारे कथनानुसार ही दीखेंगी।

चौथे नौकर तो समझता है तुझे क्या, तुझे तो चना चबेना ही मिलना है फिर तू मितिव्यय और पूंजी सञ्चयको क्यों मरता है ; उधर मालिकने हल जोता होता या मेहनतकी होती तो धन उपार्जनके कष्ट जानते होते और धनको व्यय करते बुद्धिसे काम लेते। सेंतकी गङ्गामें हरामके गोते लगाते हैं तो आंखें बन्द होती ही हैं अतः दोनों ही नष्ट भ्रष्ट हो पूंजी और मूलको धूलमें मिला बैठते हैं।

फिर धर्मशास्त्र हमें कहता है प्राणीमात्रको अपनी आत्माके समान मानो। पड़ोसीकी सहाय करो, अतिथि, अनाथ, रोगी, बूढ़े, बच्चे, विधवा और गर्भवतियोंको अन्न

देकर खाओ। क्या इन बातोंसे इस दुष्प्रथाका प्रत्यक्ष खण्डन नहीं होता?

यहांपर ३ बातें और भी विचारनेकी हैं वह यह हैं:—

(क) क्या युक्ति अथवा धर्मशास्त्र हमें कहीं बतलाते हैं कि यह प्रथा ठीक है कि हम बलात् अपने सजाति मनुष्य बन्धुसे श्रम करावें और उस श्रमके प्रतिफलमें उनको मुख खोलने तकका भी अधिकार न हो, यहां तक कि वे अपनी मुक्तिके साधनसे भी बञ्चित रखे जायं।

(ख) क्या कोई स्वामी अपने दासकी दशामें स्वयं रहना स्वीकार करेगा? यदि नहीं तो वह दुष्ट क्यों दूसरेसे वह बर्ताव करता है जो अपने साथ होना असह्य जानता है—आत्मवत् सर्व भूतानाम्—नीतिका वाक्य इसी मर्मका बोधक और विधायक है।

(ग) क्या किसी धर्मका सिद्धान्त किसी देशमें हमें अपने वश पड़ते ऐसा करने देगा कि हम अपने सहवर्ती नागरिकोंको जो हमारे ही रक्तके हैं गुलाम बना लें। धर्म ग्रन्थ तो कभी भी रक्त, रूप, निकास या घरानेके कारण मनुष्य मनुष्यमें भेद नहीं स्थापन करता। उसने मनुष्यको एक जाति बनाकर पृथ्वी सबको मिलकर रहनेको दी है। जो रक्तके कारण, घरानेके कारण भेदभाव करते हैं वे अपवित्रात्मा, नरकी, नास्तिक और अत्यन्त पतित प्राणी हैं। यदि कहीं शूद्रोंके कर्तव्यमें सेवा धर्मका विधान है जैसे 'एषमेवतु शूद्राणां प्रभु कर्म समादिशत्। एतेषां त्रय वर्णानां शुश्रूषा मनुसूयया।' तो इसका यही अभिप्राय है कि जिसमें जो अयोग्यता है वह उसे जानता हुआ योग्योंकी प्रतिष्ठा करता है। शूद्र मूर्ख, निर्बुद्धि, नीति विवेकका यथावत् न

जाननेवाला, देश प्रेमके महत्वसे शून्य हृदय, निर्धन, निर्बल होता है जो वह बुद्धिमानों (ब्राह्मणों) बलवानों (क्षत्रियों) और धनवानों (वैश्यों) की अपने शरीरसे शुश्रूषा सहायता न करेगा तो वे अपने मेहनतके फलमें से उसे भाग क्यों देने लगे। अर्थ शास्त्र वेत्ताओंको अधिक यह बात बतलानी न पड़ेगी, हमारे साधारण पाठक हमारा लिखा हुआ "देशकाधन" पढ़ें उन्हें हमारा तर्क जल्दी स्पष्ट हो जायगा। अनुसूयया-इस वास्ते कहा कि बिना इसके सम्बन्धमें नीरसता आजा-यगी और प्रेमभाव उठ जायगा और गुलामीकी दशाको शूद्र पहुंच जायंगे और स्वामी भी कुस्वामी होकर शूद्रोंके सच्चे शुभचिन्तक न रहेंगे।

सिवा महात्मा मसीहके जिन्होंने इसके दोषको कुछ समझा था अन्य सब नबियोंने आदमसे महात्मा मुहम्मद तलकने ठोकरें खाई हैं—देखो कुरान और पुराना अहदनामा, विचारसे गुलामोंकी सम्बन्धिनी आयतें पढ़ें। अप्रासांगिक होनेसे हम यहां बहुत अन्य मतोंकी बाबत प्रमाण उद्धृत करना अना-वश्यक समझते हैं।

क्या भगवानने वेद सब मनुष्योंके लिये बनाया है? क्या उसने सबके खाने पीने सूंघने आदिकी इच्छाएं और शक्तियां गुण सम्बन्धमें समान रची हैं? यदि इनका उत्तर विधि वाचक है तो निस्सन्देह उसने सबको समान रहनेको बनाया है और गुलामी घृणित प्रथा है। सिवा चाकरीकी हद्दके जिसका विधान मन्वादिक विद्वान और वेद भगवान एक समान बतला रहे हैं।

द्वि०। व्यक्तिक स्वत्व समाज द्वारा भी अपहरित हो सक-ता है हम कह चुके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाके अनुसार

अपने सुखोंकी संवर्धक शक्तियों और प्रयत्नोंको अपने काममें लानेको इस प्रतिबन्धके साथ स्वतंत्र है कि वह दूसरोंके सुखों-में बाधक न हो, तो इस दशामें सिवा स्रष्टाके कोई भी उसे इस कृत्यसे रोकनेका अधिकारी नहीं है। जैसे व्यक्ति व्यक्तिके हस्ताक्षेपसे स्वतन्त्र है, वैसे ही समष्टिके-व्यक्तियोंसे समष्टि बनी है तब उसे उन अधिकारोंसे अधिक अधिकार नहीं हो सकता जो कि व्यक्तियोंको है। जो स्वत्व दायित्व व्यक्तियोंने परस्पर मान लिये हैं वही हो सकते हैं किन्तु यह भी तो सबके समान ही होंगे। जब इस सिद्धान्तके विरुद्ध किसी व्यक्तिको समाज दबाता है तो उसके स्वत्वकों तोड़ता है उसके मौलिक स्वतन्त्रतामें बाधक होता है। प्राण, स्वतंत्रता और सुख साधनों की रक्षाके ही निमित्त शासन प्रथाका प्रादुर्भाव मनुष्योंमें हुआ है। जब कभी यह अभीष्ट सिद्ध न होते हों तो मनुष्यको अधिकार है कि शासनको उठा दे, बदल दे या और किसी तरह सुधार करे। और शासनकी नवीन नीव ठोस धरतीपर धरकर ऐसा संगठन बनावें जिसके अधिगत उनके सुख स्वतं-त्रताकी रक्षा यथेष्ट होती हो। देखो समाज व्यक्तियोंके मौलिक स्वत्वोंमें अनेकधा कैसे बाधक हो सकती है हम सूक्ष्म रीतिसे नीचे गिनाए देते हैं।

(१) निरपराध कारागारमें किसी व्यक्तिको रखकर उ-सके शारीरिक और मानसिक स्वत्वोंको नष्ट कर सकती है व करती है।

(२) यदि कोई दोष भी हो तो उसका अनुसन्धान सत्य, धर्म्मानुकूल और निष्पक्ष रूपसे न करना भी व्यक्ति स्वत्व अपहरण है। क्योंकि जबतक वह यथावत अधिकांश प्रजाके मतमें दोषी न ठहर जाय वह व्यक्ति सर्वथा निर्दोष ही होता

है। राज कर्मचारियों जमीदारों और अमीरोंका अत्याचार भी इसी शीर्षकमें आता है। न्यायके निमित्त जो धाराएं प्रजाने मिलकर मान ली हैं वह सबकी मानी हुई होनेसे सबपर समान प्रभाव रखनेवाली होनेसे अवश्य मान्य होती हैं उसमें जो व्यक्तिक स्वातन्त्र्य हानि होती है वह हानि उठानेवालेकी निज सम्मतिसे रचित न्यायके अनुसार होनेसे व्यक्तिक सुख हानिकर नहीं कही जा सकती।

(३) किसीको किसी देशमें जानेसे, रहनेसे रोकना, बाधक होना, रङ्ग रूपके कारण कृत्रिम प्रतिबन्ध लगाना पाप है क्योंकि यह सामाजिक हस्तक्षेप व्यक्तिक सुखका हानिकर है। 'अंग्रेजी मेगनाकारटा' महत स्वातन्त्र्य पत्रमें लिखा है:—

* Let no freeman be impris.)ned or disseized (r outlawed or in any way injured or proceeded against by us, otherwise than by the legal judgement;of his peers or by the law of the land. यह बाइबिलिक बुद्धिका फल नहीं है यह वैदिक प्राकृतिक बुद्धिका फल है जो हमारे अङ्गरेज भ्राताओंके मनमें पैदा हुआ। उक्त शब्दोंका अर्थ हम नीचे देते हैं। यहां हमने इस वास्ते इसका कथन किया है कि इससे हमारी सम्मति ठीक मिलती है और कोई कारण उक्त विचारका खण्डन करनेवाला हमें अपने धर्म्मग्रन्थोंमें नहीं मिला किन्तु इसीके पुष्टिकर अनेकों वाक्य श्रुति और स्मृतियोंमें पाये जाते हैं जिन्हें भारतका बच्चा बच्चा जानता है यहां उनका दोहराना समय नष्ट करना होगा।

* इसकी पूरी प्रतीक इङ्गलैण्डीय इतिहासमें मिल सकती है। सन् १२१५ में राजा जानसे शासनकालमें प्रजाने उससे बलात् यह लिखवाया था।

वर्त्तमान इंडियाज कार्पसकी न्यायधारा जो इङ्गलैण्ड अमरीकामें पूर्णतया और भारतमें हाईकोर्टों द्वारा यदाकदा वरती जाती है इसीके आधारपर है। देखो एक्‌ ५ सन्‌ १८४८ का वह भाग जिसमें हाईकोर्ट के अधिक अधिकारोंका कथन है।

'कोई ईश्वरकी स्वतन्त्र प्रजा न कैद हो, न च्युत अधिकार हो, न अनीतिसे वर्ती जाय न किसी अन्य भांति उसको कष्ट पहुंचाया जाय न उसके विरुद्ध कोई अभियोगादिकी क्रिया की जाय जबतक उसीकी जातिके गण्यमान्य लोग देशकी प्रचलित न्यायधारानुकूल उसे दोषी न प्रतिपादित करदें।'

(४) मनुष्य अपनी बुद्धिको काममें लानेकी स्वभाव-सिद्ध स्वतन्त्रतासे वञ्चित किया जा सकता है, जैसे किसी विषय विशेषको पढ़ने न देना, उसे अपनी बुद्धिके अनुकूल अपनी सम्मतिको वाणी या लेखनी द्वारा प्रकाशित न करने देना। यह समाजके दुर्गठनका ही तो प्रतिफल हुआ करता है। राजा समाजका बनाया हुआ कर्त्ता या मन्त्री या मुनीम या अधिष्ठाता है। अनेक अवस्थाओंमें समाजको जिन कामोंके करनेको बाध्य होना पड़ता है; हम उन्हें सविस्तर "राज्य प्रकरण" में दिखावेंगे।

(५) समाजका धर्म है कि व्यक्तिक मान मर्य्यादा और सम्पत्तिकी रक्षा करे। अपने सामाजिक गठनको नष्ट होनेसे बचावे अर्थात अपनी भी रक्षा करे। किन्तु समाजका कोई उद्देश्य या लाभ उसीकी व्यक्तिके लाभसे भिन्न नहीं हो सकता, जो समाज ऐसा नहीं समझता वह भूलमें है, और शीघ्र नष्ट हो जाने वाला है।

यह एक सर्व देशी सिद्धान्त है कि जब कोई व्यक्ति स्वयं अपनी आई बलाको टाल सकता है या उसके बुरे फलका

उपचार कर सकता है तो समाज हस्ताक्षेप नहीं करनेका । अतः यदि कोई स्वसम्मति प्रकाश (Publication) करना चाहे, ग्रन्थ द्वारा हो वा समाचार पत्र द्वारा, चाहे वह हानिकर भी क्यों न माना जाता हो, कभी उस समय तक नहीं रोका जाता न रोका जाना उचित ही है जब तक कि वह हानि इस प्रकारकी हो कि जिससे सम्बन्धित व्यक्ति स्वयं अपनी रक्षा करनेमें समर्थ हो । इस दशामें व्यक्ति स्वयं निज शक्तिसे जो उसमें है अपनी रक्षा करती है क्योंकि इस निमित्त उसमें यथेष्ट बल है । यदि मैं भूलता नहीं तो मेरी समझमें यह सिद्धान्त ठीक है, इससे इस बातकी विवेचना कर सकते हैं, कि कब किन किन बातोंमें मानवी बुद्धिकी स्वतंत्रतामें हस्ताक्षेप करना समाजका कर्त्तव्य होता है और कब नहीं होता । अब हम कुछ उपविभाग करके अपने आशयको विशेष स्पष्ट करनेकी चेष्टा करते हैं ।

(१) जब कि व्यक्त्यान्तरगत स्वयं निज हानि या व्याघात (Injury) निवारक साधनशक्ति प्रस्तुत है, समाजको हस्ताक्षेप न करना चाहिये; उदाहरणार्थ, मानलो, कोई कथन मिथ्या है, तो यह असत्यता यदि दार्शनिक या गणित शास्त्रीय (Mathematical) भूलसे सम्बन्धित है तो मनुष्योंमें इस झूठके परखनेको स्वाभाविक बुद्धि और शक्ति होती है इससे कोई भी हानि इस प्रकारके मिथ्या कथनसे ऐसी नहीं हो सकती जिससे बचाव न हो ।

(२) फिर यदि स्वतंत्रवाद है, तो परस्पर एक दूसरेके तर्कको खंडन मंडन करनेका अधिकार है, इस दशामें निस्सन्देह सत्यकी ही जय होती है—वादे वादे जायते तत्त्व (सत्य) बोधः । इसमें भी सामाजिक हस्ताक्षेप आवश्यक नहीं

जान पड़ता। भूलका प्रतिवाद ही निर्णायक होता है और मिथ्याका मूलोच्छेद कर डालता है। जहां बलात् तर्क वितर्क रोका जाता है वहां मिथ्याके जड़ पकड़ जानेकी अधिक सम्भावना होती है क्योंकि दुनिया यह समझती है कि इसका (चाहे बात सत्य हो) समर्थन तर्कसे नहीं हो सकता अतः यह झूठ है अथवा झूठ ही हो तो समझ लेती है कि यह सच है क्योंकि इसका तर्क द्वारा खंडन करनेकी किसीको सामर्थ्य नहीं हुई। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सरकारी न्यायकी कठोरतासे पत्रों और वक्ताओंके मुख बन्द होनेके कारण अनेक मिथ्या भाव प्रजामें फैल गये व फैलते हैं जो प्रजाके मनही मनमें राखके भीतर दबी आगके समान जड़ पकड़ते जाते हैं और भीतर ही भीतर यह अग्नि बढ़ती तो है किन्तु घटती नहीं। ज्यों ज्यों पत्र बन्द होते हैं; प्रजाका किसी बातके कहनेसे मुंह बन्द किया जाता है, त्यों त्यों उन असत्य दोषोंको जो राज्यपर थोपे गये या थोपे जाते हैं और भी सत्यताका पक्का रङ्ग मिलता चला जाता है। इस प्राकृतिक झुकाव या ईश्वरीय नियम जन्य झुकावका वारण मनुष्य शक्तिसे बाहर है। कौन नहीं जानता कि अगणित व्यक्तियां जो विद्या बाहुबल धन और अन्य किसी असाधारण योग्यता संम्पन्न न थीं केवल इसी कारण गण्य मान्य, नहीं देव सदृश पूज्यतम होगईं और अब उनकी पूजाको कोई रोक नहीं सकता, आगे आने वाली सन्तति हमसे हजारगुनी अधिक उनकी प्रतिष्ठा और पूजा करेगी, क्योंकि उनपर सरकारसे कठोरता हुई और लोगोंका मुख उस बातके कहनेसे बन्द कर दिया गया जिसके कहनेका प्राकृतिक अधिकार उनको था। चाहिये यह कि यदि वह झूठ कहते हैं तो आप झूठे सिद्ध हो

जायेंगे या सरकारकी पक्षवाला दल उनका प्रतिवाद करे। प्रतिवाद न करके लट्ठके बल मानवी प्राकृतिक स्वत्वका अपहरण उलटा प्रमाण इस बातका हो जाता है कि जो कुछ कहा गया या किया गया उचित है और बलिष्ठका लट्ठ-प्रयोग तर्क विहीनता जन्य अत्याचार मात्र है। यह स्वाभाविक मानवी बुद्धिका धर्म है जो कि प्राच्य और पाश्चात्य महर्षियों और विद्वानोंने एक शब्दमें समर्थन किया है। (१९०७ से आगे)

परन्तु मान लो कि जो बात प्रकाश की गई है वह भी हानि कर है–चाहे सत्य है या असत्य। यदि सच्ची ही है पर इस प्रकारकी है कि उसका प्रकाश न सीधा व्यक्तिक वा सामाजिक सुखके नाशका कारण होगा जिससे बचनेकी स्वतः उसमें शक्ति नहीं है तो निस्सन्देह सामाजिक हस्ताक्षेप आवश्यक है और हानिकारीको ऐसा दण्ड होना चाहिये या उससे ऐसा बदला दिलाना चाहिये कि जिससे हानि सहनेवालेकी क्षति पूर्ति होती हो और इस प्रकारके दोषोंकी वीप्सा समाजमें न हो। उदाहरणकी भांतिः—

(१) मान हानिकी रक्षा—एक आदमी अपने पड़ोसीके मानको हानि पहुंचाना चाहता है, मान भी सम्पत्तिके समान मनुष्यके दूसरे सुखोंके साधनका हेतु है, इस पड़ोसीके पास जिसे हानि पहुंचाई गई है या पहुंचाई जाने वाली है कोई निजका साधन आत्म रक्षाका नहीं है, इसके सिवा बात ऐसी है कि जिसका झुठलाना नहीं बन सकता और सर्व साधारणमें फैलना उसके बरबादीका कारण है, तो अवश्य समाजको हस्ताक्षेप करना होगा। मानलो कि 'अ' ने कहा कि ब बदनीयत है तो अब ब-को यदि उसने चोर मान लिया तो प्रत्यक्ष हानि है और यह उसके वशके बाहिर है

कि आदि जीवनसे आजतक जहां जिससे काम पड़ा हो सबको लाकर अपनी निर्दोषिता सिद्ध करे, यदि करे भी तो अ-ने जिन जिनसे यह बात कही है उन उनका सन्तोष करना व-के लिये सम्भव नहीं हो सकता। यह बात यदि समाजके हस्ताक्षेपसे न रोकी जाय तो देशमें किसीकी सुनामी स्थिर नहीं रह सकती।

(२) अनेक तृष्णायें मनुष्यमें ऐसी हैं कि जिनपर कोई रोक टोक न हो तो उसकी असीम विस्तृति व्यक्तिक स्वत्वोंका नाश कर डाले और उसके समूह समाजको मिट्टीमें मिला दें। जिस तरह डाकू पापी है वैसा ही डाकुओंको डाकेके लिये प्रोत्साहित कर्त्ता भी। इन्हीं कारणोंसे समाजको अधिकार है कि अश्लील पुस्तकें, अश्लील छवियां या ऐसी चीजें जो दुराचारके प्रचारको प्रवर्द्धक हों रोके। इसी आधारपर आग लगाना, मनुष्योंमें परस्पर द्वेष फैलाना, राजविप्लवकी चेष्टा करना भी समाजसे रोके जाने चाहियें। स्वदेश स्वत्व व शान्ति रक्षाके निमित्त ही समाजका सङ्गठन है।

उक्त बातोंको बहुत ध्यानसे देखना होगा। कई बातोंमें अवस्था भेदसे ही बड़ा अन्तर देखनेमें आवेगा। प्रजाने इङ्गलैण्डमें अपने स्वत्वोंकी रक्षाके लिये चार्लसको मारडाला, जोनको बन्दी करके एक प्रजा स्वातन्त्र्य-पत्र लिखवा लिया, तो यह राज विप्लवकी चेष्टा नहीं है। परन्तु उसी देशमें हत्यारे लोग जो अकारण राज परिकरकी हत्या करते हैं और अराजकता फैलानेके इच्छुक रहते हैं वह निस्सन्देह राजविद्रोहियोंकी एक जाति विशेष है। जिस तरह पिता मातापर बालककी रक्षाका भार है वैसे ही समाजके गण्य-मान्योंपर समाजका बोझ होता है। राज, समाज रचित एक

गोष्टि है जो कतिपय कर्त्तव्योंके पालनके निमित्त गठित होती है; चाहे एक व्यक्तिमें हो वा अनेकमें, किन्तु एक व्यक्तिक शासन मानवी स्वभावके प्रतिकूल है।

समाजके स्वत्वके आधार यह हैं–(१) आत्मरक्षा (२) मानवी बुद्धि। यह आवश्यक नहीं है कि समाजने जिन बातोंका स्मृतिमें अनन्तकालसे अनुभव कर रखा है उसकी पुनः पुनः परीक्षा किया करे, जब अनेक देशोंमें देख चुके कि प्रजाकी इच्छाके प्रतिकूल चलनेवाले दुरात्मा अनेक राजा पहिले नष्ट हो चुके हैं, इतिहास साक्षी हैं. तो वह मूर्ख है जो फिर इतिहासके प्रतिकूल ठस्सा जमाये या उसी अनुभूतका फिर अनुभव करना चाहे। दो बातें मानी हुई हैं और कहावत हो रही है कि (१) नियमबद्ध रहनेसे हानिकी अपेक्षा सदा लाभ अधिक होते हैं। (२) न्यायधारायें इतनी दुष्ट नहीं हो सकतीं जितनी कि वर्तनेवाले। अच्छे भावसे, अच्छे सिरोंसे, अच्छे हाथोंसे सङ्कलित नीतियां भी दुष्टोंके हाथसे बुरा ही नाम पाती हैं और बुरीसे बुरी शासन धारा भी धार्मिकके हाथसे वर्तें जाने पर निर्दोष हो जाती हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि जिस तरह हमने ऊपर समाजके हस्ताक्षेपका अधिकार दिखलाया है उसी सिद्धान्तपर गठित समाज हानि मिटानेके बहाने उचित बादोंकी स्वतन्त्रता और निष्प्रतिबन्ध जिज्ञासुओंकी मतिका भी तो खून कर सकता है। इसका यही उत्तर है कि:—

(१) प्रथम तो कोई नियम इस वास्ते बुरा नहीं कहा जा सकता कि उसका कुप्रयोग होना सम्भव है। क्योंकि यह शङ्का तो प्रत्येक मानवी नियमों और प्रतिबन्धोंमें हो सकती है। हम ऊपर दिखला आये हैं कि अन्न और जलका भी मनुष्य कुप्रयोग कर सकता है तो क्या अन्न व जल होने

परमावश्यक नहीं? बात यह है कि जिस नियमसे अधिकांश भलाईकी सम्भावना होती है और फिर अनुभव उसे पुष्ट भी कर देता है अथवा यों कहो कि जिस नियमसे दुखप्रद बुराइयोंका प्रादुर्भाव कम और शमन अधिक होता है वही ठीक समझा जाता है। इसीलिये,अर्थात् मानवी नियम सत्रुटि होनेके कारण ही वे समयानुकूल परिवर्तित होते रहते हैं, ईश्वरीय नियमोंकी भांति अटल और एकसे नहीं होते। पुनः हम यह भी स्पष्ट कह चुके हैं कि नियम जड़ हैं प्रयोग कर्त्ताके आधीन होते हैं अतः प्रयोगकर्त्ता दुष्ट है तो सुष्ठु नियम भी दुष्ट हैं जो वर्तनेवाला सुष्ठु है तो दुष्ट नियम भी सुष्ठु हैं। नियमसे लाभ इतना ही है कि प्रत्यक्ष नियम विरुद्धाचरणकी दशामें नियमके शब्दानुकूल हम दुष्ट शासकोंको समझा, रोक व दण्ड दे सकते हैं। और इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य एक बातके बादको हानिकर समझ ले पर वह हानिकर न हो, और इस तरहसे अकारण अनावश्यक बाधा तत्त्वानुसन्धानमें डाल दे किन्तु इसका भी उपाय है। उपाय यही है कि सर्वथा न्याय करनेवाले प्रजावर्गके पक्ष हों। जब १० या १५ मनुष्य प्रजामें से किसी विषयकी व्यवस्था करने बैठेंगे और यह चिट्ठी द्वारा चुने हुये लोग होंगे और फिर उनमें से अभियुक्तको अधिकार होगा कि वह अपने व्यवस्थापक चुनले, तो सम्भव नहीं कि एक भी निष्पक्ष व्यक्ति उसे इस व्यवस्थापक समितिमें न मिले। फिर यह व्यवस्थापक और न्यायाधीश भी तो इसी नियमान्तर गत होते हैं, उनके ऊपर जो दोषारोपण होगा तो वे जानते हैं कि हम भी इसी नियमानुकूल वर्त्ते जायंगे। और यह कब अनुमान कर सकते हैं कि वह अपनी व्यक्तिक स्वतन्त्रताके पैरमें कुल्हाड़ी मारना इस वास्ते

पसन्द करेंगे कि वे स्वयं दूसरे पड़ोसीकी स्वतन्त्रतामें बाधक हों। अतः प्रजा व्यवस्थापक-समिति-सम्पन्न न्यायालय ऐसा निष्पक्ष और साधु होता है जैसा कि होना अभीष्ट और सम्भव है। कोई भी बुद्धिमान पुरुष इस सिद्धान्तका विरोध नहीं कर सकता। इनकी व्यवस्था (फैसला) को हरेक सच्चे दिलका आदमी स्वीकार करेगा, यदि ईश्वरीय आज्ञाओंका विरोध न हो। कारण यह है कि यह ऐहिक प्रबन्ध सम्बन्धी बात है जहां परमार्थ सम्बन्धी बात है वहां हमें इसके विपरीत देखनेमें आ सकता है। जैसे किसी देशमें सब लोग एक पहाड़ विशेषको ईश्वर मानते हों जो कि नश्वर, है। यहां एक व्यक्तिको यह निश्चय हो कि पहाड़ ईश्वर नहीं हो सकता, जीव अमर है, जीव ईश्वरका बहुत बड़ा सम्बन्ध है तो सारी प्रजा उसके विरुद्ध ही कहेगी लेकिन क्या वह मान लेगा? कदापि नहीं।

(२) अब प्रश्न यही रहता है कि जब किसीको अपनी शक्ति समष्टिकी हानि करनेमें प्रयुक्त करनेका अधिकार नहीं है तो यही केवल देखना होगा कि जिस कृत्यके विरुद्ध चीत्कार (फरयाद) की गई है क्या वास्तविक ऐसी हानिकर है कि जिसमें सामाजिक हस्तक्षेप होना चाहिये? तो इसमें कोई सन्देह और तर्कका स्थल नहीं कि दश पन्द्रह आदमियोंकी व्यवस्था सर्वथा एकसे अच्छी और यथार्थ ही होगी, विशेषतः जब कि उनका कोई निजका स्वार्थ और पक्षपात कारण न हो। एक मनुष्यमें जितना व्यक्तिक अभिमानकी भूल बड़प्पनकी चाह और धनकी लोलुपता हो सकती है उतनी अनेकोंके समूहको नहीं हो सकती। सम्भव है कि दश भी भूल करें, अन्याय कर डालें पर एककी अपेक्षा तो कम ही ऐसा

देखनेमें आता है। पर हां जो सब व्यवस्थापक एक जातिके होंगे और अभियुक्त दूसरी जातिका होगा, तथा विषय समष्टि सम्बन्धी होगा तो समष्टि व्यवस्थापक यूथ भी व्यक्तिकी ही भांति आचरण कर सकता है।

हम इतना और कहे बिना नहीं रह सकते कि सबसे अधिक पवित्र और अनुज्ञा युत कर्त्तव्य तो व्यवस्थापकों, निर्णायकों, पञ्चों (Jury) और दोषारोपक अधिकारियोंपर रहता है।

आजकल हम मुद्रणालय, अन्वेषण, तर्क और मानवी बुद्धि व्यवहारके स्वतंत्रताकी धूम सुनते हैं। यह सब पवित्र सद्गुण ऐसे हैं जिन्हें नष्ट न होने देना चाहिये और तन, मन, धन प्राण देकर भी इन्हें बचाना प्रजाका धर्म्म है। पर निस्सन्देह यह कहना ठीक है कि कोई स्वातंत्र विना किसी रोक या सीमाके यथेष्ट स्थितमें नहीं रह सकता। क्योंकि कोई भी बात जो कही गई ऐसी नहीं है जिससे लाभकी भांति हानि भी न हो सकती हो। जो अच्छे ग्रन्थों और समाचार पत्रोंसे प्रजाको लाभ होता है तो बुरे लेखोंसे प्रजा दुराचारिणी लम्पट और बुरी भी हो सकती है, इसीसे रोकटोक और सीमाकी आवश्यकता होती है। जो मनुष्यमें स्वाभाविक दुष्टता ही न होती, तो राजा और शासनका नाम ही जगतमें न हुआ होता।

३—अब हमें सिद्ध होता है कि मत सम्बन्धी स्वतन्त्रतापर भी सामाजिक आघात होना सम्भव है। मनुष्य स्वेच्छानुसार स्वतन्त्रतापूर्वक ईश्वरोपासना अपने सुखोंके साधनके

निमित्त अपने प्रकाशके आधारपर कर सकता है परन्तु कोई कृत्य समाजको हानिकर न होना चाहिये। (१) वह स्वयं या किसी जन संख्याके साथ चाहे जिस रीतिसे ईश्वरोपासना प्रार्थना आदि करे। (२) अपने मतको स्वतन्त्रतापूर्वक दूसरोंको भी सुख देनेके भावसे सिखावै, सुनावै और बतलावै। लेकिन किसीके इन्हीं स्वतन्त्रताओंमें बाधक न हो और भाव अन्तःकरणमें सच्चा और शुद्ध हो।

समाजके आघात इस स्वतन्त्रतापर यह हो सकते हैं। (१) प्रत्यक्ष किसी मतकी प्रथाको बलात् रोककर या प्रचलित करके जैसा मुसलमानोंके पूर्व कृत्योंमें देखा जाता है व इतिहास भी बतला रहा है कि इन्होंने क्या किया। फ्रेञ्च विप्लवके समय भी सब मतोंको निष्क्रय किया गया था, क्योंकि प्राचीन ईसाई भी इस दोषसे रहित न थे।

(२) किसीको किसी मतका होने न होनेके कारण दण्ड देना हाथ पैर काटने आदि द्वारा उन्हें बेकार कर देना।

(३) किसी मत विशेषकी सहायता करना और दूसरोंको जो कष्ट बाधा हो उसे देखकर चुप रहना। जैसे वर्त्तमानमें ईसाइयोंको राजकोषसे धन दिया जाता है और अन्य मतानुयायियोंको अनेक प्रकारकी बाधायें हैं जो ईसाइयोंको नहीं हैं।

पर मनुष्य अपने धर्म्मपालनमें स्वतन्त्र ही है व होता है।

मण्डल तीसरा ।

अनुवाक १

"साम्पत्तिक न्याय ।"

(१) सम्पत्ति स्वत्व क्या है ? सम्पत्तिका स्वत्व विशेष वह स्वत्व है कि हम किसी चीजका अपने मनके अनुसार प्रयोग करें। पर यह अधिकार साधारण है सब मनुष्योंमें है इससे हमें इसमें भी रोक लगानी पड़ती है कि तुम अपनी सम्पत्ति जैसे चाहो काममें लाओ पर ऐसे काममें न ला सकोगे कि जो दूसरेके सुखमें बाधक हो। यह स्वत्व धर्म-स्वत्वानुसार ही है।

(२) सम्पत्ति स्वत्वाधार क्या है ? सम्पत्ति स्वत्वाधार परमात्माकी इच्छा है; हमारी स्वाभाविक अन्तरात्मा, साधारण परिणाम और धर्मग्रन्थ हमें इस बातकी साक्षी दे रहे हैं। जगत्की सारी चीजें उसीकी सम्पत्ति हैं; उसको अधिकार है कि अपनी चीज चाहे जिसे दे और चाहे जिस शर्तपर दे और जिसतरह वह समझे उसीतरह प्रयोग करने दे। उसने हमारे मनमें जो सिद्धान्त दृढ़ किये हैं जिन सम्बन्धोंमें हमें उसने स्थित किया है जो चलन समाजमें अपना जो परिणाम दिखा चुके हैं उनसे उसकी इच्छाका बोध हमें होता है।

(क) स्वभावजन्य अन्तरात्माकी व्यवस्था द्वारा जैसे—

(१ सभी मनुष्य ज्योंहीं सुध सम्हालने लगते हैं यहांतक कि बचपन और बेसमझीकी अवस्थामें भी, अपने इस सम्बन्धको मालूम करलेते हैं; कई वस्तुओंको वे तुरन्त अपना लेते हैं और जो उनका उन वस्तुओंपरसे स्वत्व भङ्ग किया जाता है तो उन्हें भान होता है कि उनको हानि पहुंची और जब वह

स्वयं किसी दूसरेके स्वत्वको भङ्ग करते हैं तो उन्हें अपने अपराधका भी ज्ञान होता है ।

(२) सम्पत्ति सम्बन्ध सम्बन्ध-कारकीय सर्वनामोंसे प्रकट किया जाता है और यहबात सब भाषाओंमें पाई जाती है। सारे जगत्‌के मनुष्योंमें यह भाव इतना सार्वभौमिक प्रभाव रखता है कि मनुष्यके प्रत्येक काम और भाव (Feeling) में घुस रहा है। दो मनुष्य किसी विषयपर साथ ही कुछ पल बात करते होंगे, चाहे उनकी कोई बोली क्यों न हो, जिसमें कईबार ऐसे शब्द न आते हों जिनसे अधिकारका सम्बन्ध सूचित होता हो। जैसे हमारा—उसका—तुम्हारा इत्यादि—

(३) न केवल साम्पत्तिक स्वत्व वर्त्तावमें अन्योन्य सहायताकी परमावश्यकता विचारसे मनुष्य मालूम करते हैं वरन् प्रत्यक्ष भान करते हैं कि जो इस सम्बन्धको भङ्ग करता है दोष करता है, अर्थात् अपने कर्त्तव्यको भङ्ग करता है जिससे कि वह दण्डका पात्र है। यह न मात्र कृत्य फलके ही कारण वरन् कर्त्ताकी पापिष्ठताके आधारपर भी। अर्थात् कोई किसीकी चीज हर लेता है तो वह दण्डका भागी न केवल इसलिये माना जाता है कि उसने चीज लेली किन्तु इसलिये भी कि उसका मन पापिष्ट है। यह अन्तर महीन है पाठक विचार करके देखेंगे तो समझमें आ जायगा। हम ऊपर कह चुके हैं कि कामका परिणाम दूसरी बात है और मनका भाव दूसरा। जो कामके परिणाममें ही दोष हो तो हरी हुई चीजका लौटा देना बस हो जाय लेकिन नहीं अपहरित वस्तुके लौटा देनेके अतिरिक्त चोरको दण्ड भी होता है। सम्वादिक, चोरोंको चोरी किये हुए मालसे कई गुना अधिक दण्डमें देना और बारम्बार चोरी करनेवालोंके हाथ या अंगुलियोंका काटना और कारावास

उचित दण्ड बतलाते हैं। आजकल अर्थ दण्ड या कारावास चोरीका दण्ड है या दोनों एक साथ।

(ख) यह बात ठीक है कि ईश्वरेच्छासे सम्पत्तिका अधिकार (कब्जा) उन साधारण परिणामोंसे ही स्वयं सिद्ध है जो इस सम्बन्धकी सत्ताके प्रतिफल रूप प्रादुर्भूत होते हैं। इस स्वत्वके ही अङ्गीकार करनेपर मनुष्य जातिकी सत्ताका आश्रय है और सामाजिक उन्नतिका तो कहना ही क्या था। हममेंसे कौन ऐसा है जो न कहेगा कि यदि प्रत्येक मनुष्य अपने श्रमके फल भोगनेका हकदार न हो और इन मेहनतोंसे उत्पन्न लाभोंके सम्भोगका स्वतन्त्र अधिकार न रखे तो:—

(१) कोई श्रमही न करेगा, जो करेगा भी तो इतनी जो तात्क्षणिक आवश्यकताको अभीष्ट हो क्योंकि उसकी मेहनतके फलपर उसका व दूसरोंका एक समान अधिकार होनेसे कोई उसमें आशा शेष नहीं रहेगी।

(२) उक्त उदासीनता और स्वत्व विहीनताका परिणाम यह होगा कि पूंजी, औजार, भविष्यके लिये भाण्डार, घर बार सब नष्ट हो जायंगे। और हरेक मनुष्य ठीक क्षणपर अपनी आवश्यकता निवारणकी चेष्टा किया करेगा और मनुष्यत्वका अन्त होकर पशुओंकी भांति हममें भी प्राणित्व मात्र ही शेष रह जायगा। देखो हमारा 'देशका धन' नामक निबन्ध। और असुविधाके कारण मनुष्य जाति ही नष्ट हो जायगी, उन्नतिकी तो बात ही दूर रही। धीरे धीरे स्वयं भूत पदार्थों पर जीवन हुआ करेगा। वन मानुषों या बन्दरोंकी दशापर विचार करके देखलो।

(३) सार यह है कि जितनी स्वत्व अभंगता होती है उतनी ही समाज उन्नति करती है और जीवन, सुख, सुविधा,

गुणित व फलित होती हैं। सुतरांम् स्वत्व रक्षासे स्वतंत्र और क्रम विशिष्ट शासनोंमें, विशेषतः शान्तिके समय जब समर नहीं होते, परस्पर व्यर्थ झगड़े नहीं चलते होते धन एकत्र होता है समाज पूर्ण योग्य और मुकाबलेकी उन्नतिके प्रसादको भोगती है, कला वृद्धि होती है, विज्ञान बढ़ता है और मनुष्य उन सुखोंके भावोंका कुछ ध्यान बांधने लगता है जो मानवी निबन्धमें होने सम्भव हैं। इसके प्रतिकूल जहां अत्याचार धींगामुस्ती, असंरक्षता होती है धरा, धाम, कोष, प्राण' नारी आदिकी रक्षाका ठीक ठिकाना नहीं होता, विशेषतः देश- आभ्यन्तर युद्धमें जो शासक और शासितान्तर गत होता है (Civil war) श्रम नष्ट, पूजी भ्रष्ट व मतक होजाते हैं भख, दुर्भिक्ष रोगादि बढ़ते हैं, कलाकौशलकी अवनति हो जाती है, मनुष्यगणना (वह गणना जो प्राकृतिक सुखसे बढ़ा करती है क्योंकि बालविवाहादिसे बढ़ीहुई कृत्रिम मनुष्य गणना अवश्य शीघ्र नाश हो जाती है। घटती है और मनुष्योंमें जङ्गलीपन आजाता है। भारतका इतिहास महाभारतसे आज पर्य्यन्तका इस बातका प्रत्यक्ष उदाहरण है। आधुनिक १२३ वर्षका इतिहास भी इस छविके दोनों पार्श्व अनेक अनेक अंशोंमें हमारी बातकी पुष्टि कर रहा है।

(ग) उपनिषदोंकी यह आज्ञा कि 'मा गृधः कस्यचिद्धनम् भी हमें यही बतलाती है जो हमने ऊपर कहा। यही हमें महर्षि व्यासदेवकी शिक्षामें भी स्थानान्तरमें मिलता है।

अनुवाक २

"कैसे साम्पत्तिक स्वत्व प्राप्त होता है।"

(१) सीधा और वस्तुतः

(क) परम पिता परिदत्त—नदी, जङ्गल, पहाड़ आकरें उसने हमें दी हैं, हम बिना पर हस्ताक्षेपके इनसे लाभ उठावें। जो जहां पहले पहुंचा अपना लिया। हां, दूसरेके अपनाए हुए पर हस्तक्षेप करना उचित नहीं क्योंकि यह ही स्वत्व अपहरण है।

(ख) अपने श्रमसे उत्पन्न। हम अपने बुद्धि, बाहुबल आदि साधनोंसे सम्पत्ति पैदा करते हैं उसपर हमारा प्रत्यक्ष स्वत्व होता है हम ऊपर कह चुके हैं और इस विषयमें विस्तारसे ने लिखेंगे।

(२) असीधा और अनुमित रूपसे।

(क) विनमय (अदला बदला,) व्याज, क्रय विक्रय धनके बदले।

(ख) दान प्रतिग्रह द्वारा,—हमें अधिकार है हम अपनी मेहनतका फल जिसे चाहें दान कर दें, अपना जानकर, असहाय अनाथ वा दीन जानकर अथवा और किसी कारण।

(ग) लेख पत्र—मरनेके पहले ही हम अपने भविष्य दानका प्रबन्ध कर दें।

(घ) पैत्रिक स्वत्वसे प्राप्त सम्पत्ति। जिसकी बाबत धर्मशास्त्रमें सविस्तर भागों और अंशोंका विधान पाया जाता है, आधुनिक नियम भी इस स्वत्वकी अपने प्रकाशानुसार रक्षा करते हैं।

(ङ) प्राचीन अधिकार। यह भी एक प्रकार उसीका अङ्ग है जो हम ऊपर पहाड़ जङ्गलोंकी बाबत कह चुके हैं। जैसे किसी जगह एक धरती है जिसपर हमारा कोई नैतिक स्वत्व नहीं है पर हमने अधिकार किया और किसीकी कुछ हानि न हुई न किसीने कुछ कहा। हम बहुत समयतक उसके अधिकारी रहे घर बार, वाटिका, कूपादि बनाए तो फिर वह हमारा हो

गया कोई उसे नहीं ले सकता । किन्तु समाजको ऐसे अधिकारोंके निर्णयका अधिकार होता है और निर्णायक नियम साधारण होते हैं जिसका बन्धन समाजके प्रत्येक प्राणीको यहां तक कि हरेक व्यवस्थापकको भी आबद्ध करता है। कारण यह है कि सम्भव है कि कोई हमारे कथजेसे उत्तम हेतु अपने अधिकारका बतावे तो हमारा स्वत्व हट जायगा। इस विषयका बहुतसा अंश मानवी उन्नति इतिहास राजनीति और सम्पत्ति शास्त्रसे सम्बन्ध रखता है हमने, उसको छोड़ दिया है जिसमें ग्रन्थ यथा सम्भव बढे नहीं।

एक बात विचारमें रखनी चाहिये कि यद्यपि केवल सामाजिक न्याय धारा किसीको किसी सम्पत्तिपर कोई नैतिक स्वत्व नहीं प्रदान कर सकती तथापि जब एक बार समाज निर्णय कर दे कि अमुकका अमुक सम्पत्तिपर नैतिक स्वत्व है तो दूसरे मनुष्योंका कर्त्तव्य है कि फिर उसके अधिकारमें बाधक न हों। जैसे हमें किसी अन्य व्यक्तिके घरमें आग लगानेका अधिकार नहीं है वैसे ही हमें उसके घरमें भी आग लगानेका अधिकार नहीं है जिसने उस घरको किसी दीन अनाथसे ठगकर प्राप्त किया है।

यहां यही बतलाया गया है कि सम्पत्ति ईश्वर प्रदत्त या पुरुषार्थसे उपार्जित होती है अथवा विनमय, प्रतिग्रह, जीते हुए वा मरनेके पीछे लेखपत्र द्वारा (पर यह दान दाताकी स्वतंत्र इच्छासे होना चाहिये,) पैत्रिक सम्पत्ति या निर्विवाद अधिकारसे अधिकृत होनेसे मिलती है। इसमें प्रायः सब अवस्थायें ध्यानमें आजाती हैं।

मनुष्य जातिके इतिहासके पाठकोंको इसका सारा हाल सविस्तर ज्ञात होगा। नहीं तो अनेक उन्नतिकृत देशोंके

इतिहासों और न्याय धाराओंको देखनेसे हमें अच्छीतरह ज्ञात होता है कि ईश्वरकी स्वयं इच्छा है कि सम्पत्ति प्रबन्ध अमुक रीतिपर हो। जिन जिन कारणोंसे सम्पत्तियां नष्ट हुईं, राज ध्वंस हुए; फिर एक बार नहीं अनेक बार समान कार्मोंके समान परिणाम देखे तो हमें जानना चाहिये कि यह ईश्वरेच्छा विरुद्ध हैं और इसके विरुद्ध परिणामका अनुमान करना उचित है। प्रजाको संताप देनेसे अनेक राज नष्ट हो चुके हैं तो अब भी जो समाज प्रजाके परितापका कारण होगा या है शीघ्र ही नष्ट होगी यह बात निर्विवाद है क्योंकि ईश्वरेच्छा यही है कि प्रजाके आनन्दका साधक समाज फलित गुणित और प्रतिष्ठित आनन्दित होता है और उसी शासनकी दृढ़-स्थिति होती है जिसका आधार प्रजा प्रेमपर होता है अन्यथा अबेर सबेर नाश होकर ही रहता है। इस विषयमें इङ्गलेण्ड, अमरीका, रोम, ग्रीस, इजिप्ट और अरबके इतिहास देखने योग्य हैं। हमने विषयान्तरमें पड़कर अपने पाठकोंको दिक करना नहीं चाहा, नहीं तो उक्त इतिहासोंमेंसे सार सार बातोंका यहां दिखाना लाभसे रिक्त न होता।

इस विषयपर आगे चलकर शासक सम्बन्धी नीतिमें कुछ विचार मिलेंगे।

अनुवाक २

साम्पत्तिक स्वत्व व दायित्व।

कहा जा चुका है कि जहां तक सम्पत्ति स्वत्व विस्तार रखता है व्यक्ति और समष्टि दोनोंसे ही अलग है। यह बात दोनों पक्षोंके सम्बन्धमें सत्य है। अतः जो मेरे स्वामित्वमें है मैं उसका व्यक्तियों और समाज दोनों ही से अलग स्वामी हूं

और इसका विलोम भी सत्य है कि जो समाज या व्यक्तियोंकी सम्पत्ति है वह उसके बिना मेरे किसी सम्पर्कके स्वामी हैं। इसलिये सम्पत्ति स्वत्व चाहे व्यक्ति विशेषका हो चाहे लोक (Public) का, बदनियतीसे सम्पत्ति अपहरण करके स्वत्व भङ्ग किया जा सकता है अपहरता चाहे समष्टि हो या व्यक्ति। अपहरित वस्तु चाहे छोटी हो या मोटी सम्पत्ति स्वत्वभङ्गी-करण दोष दोनोंमें होता है जैसे पुस्तक, लेखनी, कागजकी चोरी वैसी ही धनकी। फल चुराना वैसा ही जैसा गाय बैल। जैसे चुङ्गी और राजकरोंके सम्बन्धमें छल करना, आंखोंमें धूल झोंकना वैसे ही किसी पड़ोसीको वञ्चना। दो के चार जैसे समाजसे लेना वैसा ही व्यक्तिसे, मित्रका भी चालसे धन छीनना धोखा दे कर ले लेना वही अर्थ रखता है जो कि टपाल (Post Office) के साथ छल करना रखता है। दूसरेकी सम्पत्ति धर्मानुकूल तो उसीकी इच्छासे दी हुई मिल सकती है। पानेवाले या लेनेवालेकी ओरसे किसी प्रकारकी असदकृति न होनी चाहिये। जो पानेवाला कोई अनुचित अभिप्राय काममें लाता है तो वह अनीति करता है। किसीसे यह कहना कि तू अपना धन मुझे दे नहीं तो मैं तेरी जान मार डालूंगा या तेरी स्त्री वा कन्याका सतीत्व तेरे सम्मुख वा पीछे बलात् नष्ट कर दूंगा और इस प्राण या धर्म या मर्यादाके भयसे, वह धन दे दे तो वह इच्छासे दिया हुआ नहीं हो सकता क्योंकि देनेवालेकी इच्छा रूप स्वतन्त्र सम्पत्ति स्वत्वपर आघात किया गया। इसी तरह हमारे पास कोई आया हमने उसका अहङ्कार इसलिये उत्तेजित कर दिया कि वह हमारा घोड़ा १०००) को क्रय कर ले और उसे घोड़ेकी चाहत नहीं है तो भी हमारा काम नीति विरुद्ध और

बेईमानीका है क्योंकि हमने उसको मरजी प्राप्त करनेमें उस अभीष्ट (Motive= गरज) से काम लिया जिसके प्रयोगका हमें नैतिक अधिकार न था। किसी बालकको मनभावनी वस्तु दिखा मोहितकर उसके हाथसे अकारण उचित या अनुचित दामपर वस्तु खरीद करना बेईमानी है। इसी तरह मिथ्या कारण दिखलाकर किसीकी सम्पत्ति उसके हाथसे दूसरेके हाथमें पहुंचाना अधर्म्म है। उक्त उदाहरणोंमें दण्ड देनेके लिये बोझोंमें चाहे तारतम्यता हो पर नैतिक दोष सबमें समान ही हैं। सार यह है कि सम्पत्तिका कर-परिवर्तन उन सब दशाओंमें अनीति है जहां प्रापककी ओरसे किसी दुष्ट कृतिका प्रयोग हुआ हो अर्थात् जहांपर स्वयं प्रीतिपूर्वक अपनी स्वहृदयजन्य इच्छासे वस्तुको दाताने न दी हो।

याद रहे कि सम्पत्ति-स्वत्वका घात होना सम्भव हैः—

(१) स्वामीकी अनजानमें लेनेसे अर्थात् चोरीसे। मालिककी इच्छा समस्त सम्पत्ति परिवर्तनमें आवश्यक होती है। हमारी निज कल्पना कि मालिक न नटेगा, छोटी चीज है, स्वामीको इसकी चिन्ता न होगी इत्यादि इत्यादि सर्वथा अनुचित है, कभी हमारी अनीतिका रूप न बदलेंगी न हमें इस तरह अपनेको प्रवाहित करना उचित ही है। किसीकी चीजको उसके विना जाने एक स्थानसे दूसरे स्थानपर इस अभिप्रायसे रखना कि वह वस्तुके मुख्य स्वामीके सिवा किसी दूसरेके हाथमें पहुंचे अनीति है। चोरी है। वञ्चना है। दण्डनीय कृत्य है।

(२) बलात् किसीकी इच्छाका प्राप्त करना। बलात् प्राप्ति दोष है (इस्तहसाल बिज्जब्र) जैसे डाका, बलात् संहार। प्रथममें सम्पत्ति, दूसरेमें तन और धर्मका सम्बन्ध

है। तन, धर्म, मान व मर्य्यादा भी एक प्रकारकी मनुष्यकी स्वतन्त्र सम्पत्तियां हैं। बलात् किसीको किसी बातपर राजी करना दोहरा या कठोर दण्ड या मृत्यु दण्ड योग्य पाप है। यदि यह सामाजिक शासन धारा सम्बन्धी बात कही जाती हैं वरन विशुद्ध नीतिसे ही इनका सम्बन्ध है। नीतिकी नींव पर सामाजिक घर उठता है और नीति उस घरके रक्षाके नियमोंमें प्राणवत रहती है।

(३) किसीकी मरजी बलात् तो नहीं पर छलसे प्राप्त करना या किसीको छलना। इसके ३ भेद हो सकते हैं।

(क) प्रतिदान समता या औचित्य विहीन, जैसे झूठ मूठ अन्धा, कोढ़ी, लंगड़ा बनकर भीख लेनी।

(ख) जहां समता द्रव्यकी हो और बदला जो समझा समझाया हो उससे भिन्न हो।

(ग) यह स्वीकृति किसी दुराचारके निमित्त प्रापकने प्राप्त की हो। पिछले दो उपविभागोंको एक मानकर पुनः दो वर्गोंमें विभाजित करते हैं तो (।) जहां बदला द्राविक (माद्दी = Material) हो (॥) जहां बदला अद्राविक (गैर माद्दी) हो। अब प्रथम बातको पुनः दो अंशोंमें उपवर्गित करनेसे (–) जहां कि परिवर्त्तन स्थाई हो (=) जहां कि परिवर्तन अस्थाई हो।

अब जहां विनमय (Transfer = इन्तकाल) दोनों पक्षमें चिरस्थाई होता है वहां क्रयविक्रयनयका सम्बन्ध होता है। क्रेता विक्रेताके शासनका सिद्धान्त उनके पारस्परिक स्थिति सम्बन्धसे विचारा जाता है। मान लिया गया है कि विक्रेता या वणिक अपनी पूंजी और अपना समय व श्रम

अपने पड़ोसियों तक उनके मतलबकी चीजोंके पहुंचानेके निमित्त लगाया करता है। और उसे (वणिकको) जोखम, समय, श्रम, मूलधन, व्याज, चातुरी आदिके विचारसे कुछ लाभ अवश्य होना चाहिये—यह लाभ भार निस्सन्देह क्र ताओंके सिवा और किसीपर नहीं पड़ सकता। अतः क्र ताको उक्त बातोंका बदला विक्र ता वणिकको देना होता है। भावकी घटा बढ़ीसे वणिकको हानि लाभ हो तो वह विषय दूसरा है।

(१) विक्र ताको समझौता या आदर्श (पाटन, नमूना, वानगी) के अनुकूल माल देना कर्त्तव्य है, वह नीतिसे बाध्य है। यदि वह जानता है कि चीज निर्दोष, समझौते या नमूनेके बराबर है तो वह देदेगा और अधिक उसका दायित्व उसपर कुछ नहीं रहेगा। यही बात कारीगर जो अपना निजका माल यदि बेचे तो जानना चाहिये यह काम क्र ताका है कि वह देखे, वस्तु उसके कामकी उपयुक्त और मोल तोलमें ठीक है वा नहीं। पर हां जो स्वयं खरीदार या कारीगर अपनी असावधानतासे ठगा गया हो, या अधिक समय या धन उसे लगाना पड़ा हो तो इस कारण उसे कोई स्वत्व इस बातका नहीं है कि वह इसके बदले अपने पड़ोसियोंको ठगे या धोखा दे। मालके अनुसार दाम लेना नीति है अन्यथा अनीति।

प्रत्येक मनुष्यको अपनी व्यवस्थाकी भूलका परिणाम स्वयं उठाना चाहिये। वणिक या कारीगरने भूल की जो उचितसे अधिक धन, श्रम वा समय लगाया तो उसकी हानि स्वयं ही उठानी चाहिये और उचित प्रचलित हाट-दामपर बेचना चाहिये न कि अनुचित दाम बढ़ाकर। ग्राहककी बुद्धि व्यवस्थाका सहायक विक्र ता नहीं। न उसकी आवश्यकताओंका विचार करनेवाला ही, पर जो कोई खोट हो तो उसे प्रकाश

कर देना नीति निपुणोंका काम है नहीं तो विक्रेता छलका दोषी होता है क्योंकि विक्रेता अपने मालके दोषको जानता है और क्रेता नहीं जानता। यदि पहिलेसे खोल दिया गया हो कि किसी प्रकारकी जिम्मेदारी और समझौता नहीं है तो अलबत विक्रेता दायी नहीं रहता।

(२) जब कोई माल बेचता है तो उसका स्वाभाविक विज्ञापन यह होता है कि वह बाजार भाव पर अच्छी चीज बेचता है, इसीसे उसे इस प्रतिज्ञाकी रक्षा खूब करनी होगी जिससे ग्राहक आवें। यह उसके वास्ते अपशब्दके समान होगा कि यह बाजारसे अधिक दाम लेता है चीज अच्छी नहीं रखता—क्योंकि ग्राहक न आवेंगे और दुकानदारी नष्ट हो जायगी। अतः यह नीति दोनों पक्षोंको लाभप्रद, विश्वास-वर्द्धक, सौहार्द्य जनक एवं सुखकारी है कि समझौतेके अनुसार काम हो चाहे समझौता प्रत्यक्ष हो गया हो या साधारण माना हुआ हो। इसीसे महंगीमें अधिक लाभ उठाना, सस्तीमें टोटा देना विक्रेताका काम है परअनीतिकी ओर झुकना नितान्त हानिकर है। लेकिन यह बात सौदागरीकी है कि जो किसीके पास एक टोपी है वह चाहता है कि कोई इसे ले ही ले तो मेरा काम चले तब बाजार भावका विचार नहीं चल सकता सस्ती बेचनी होगी साथ ही जो हम चाहें कि कोई अपने चढ़नेका घोड़ा हमको बेच ही दे कि हमारी राजी हो तो अलबत्त विक्रेता अधिक दाम ले सकेगा और क्रेताको अपना शौक पूरा करना होगा तो देगा। विक्रेता इस बन्धनमें तो नहीं है कि अपनी चीजकी एक रेखा गुण आदि सम्बन्धमें बांध दे; हां वह चाहे तो ऐसा करे पर सचाईसे विचलित पद न हो और ग्राहकको वस्तुके यथार्थ

गुणके अतिरिक्त अन्य कारणों या फांकियोंसे क्रय करनेकी ओर प्रवाहित न करे। विक्रेताका कोई स्वत्व नहीं जो ग्राहककी आशा, लोभ लालच, उदारता, भय आदिको उत्तेजित, इङ्गित या संकेतित करे। तेजी मन्दी फैलानेको बाजारमें झूठी खबरोंका फैलाना अनुचित है, इजारा या ठेका लेकर माल महंगा बेचना अनीति है। पाप है।

हम 'देशका धन' नामक पुस्तकमें भी इस विषयपर थोड़ा सा कह चुके हैं। अधिक लिखना पाठकोंको स्यात् यह बतलावे कि हम नीतिसे हटकर अर्थशास्त्रमें जा पड़े अतः हम इसे छोड़ दूसरे अङ्ग—अस्थाई बदले—पर विचार करते हैं।

अस्थाई बदलेकी दशामें उधार लेनेवाला वस्तु व्यवहारके बदलेमें कुछ निर्णीत तत्सम बदला देता है। यह बदला देना प्रत्यक्ष ही ठीक है क्योंकि जो पदार्थ मालिकके पास रहता तो अवश्य बढ़ता या दूसरा लाभ देता जो बढ़ोतर या लाभ अब ऋणी उठावेगा तो उसका अनुकूल बदला होना ही चाहिये। इसीको व्याज, भाड़ा या किराया आदि कहते हैं। जो ऋणीको देनेके बाद लाभ न प्रतीत हो तो वस्तुको ऋण न ले लेकिन इसका कोई कारण नहीं हो सकता कि वह मालिकको व्यवहारका बदला न दे। यह बदला दो बातोंपर विचारित होता है एक तो व्यवहार करनेपर दूसरे जोखमपर।

अनुवाक ३

"पारस्परिक अर्थ-सम्बन्ध।"

(१) व्यवहार—

पूंजी अधिक लाभप्रद होती है, कभी कभी तो उससे बहुत अधिक ही अधिक प्रतिफल मिलता है पर निरर्थक तो होती

ही नहीं यदि गाड़कर न छोड़ दी जाय। किसी समय दूसरे समयकी अपेक्षा करखा, चक्की बहुत ही अधिक लाभ देते हैं। किसी किसी जगहकी धरती अन्यत्रसे अधिकतर निपजाऊ होती है। जहां उधार देने लेनेकी प्रथा है इसके द्वारा बहुत व्यवसायकी उन्नति होती है। यह कहना व्यर्थ है क्योंकि सब ही जानते हैं जहां ऋण लेनेवाले या क्रेता कम और विक्रेता या पूंजीवाले अधिक होंगे वहां व्याजका भाव या मालका दाम कम हो जायगा और इसके विरुद्ध दशामें इसके विरुद्ध फल होगा।

(२) जोखम—

जब स्वामी अपनी सम्पत्तिको ऋणपर देदेता है तो फिर उस सम्पत्तिपरसे उसका वास्तविक अधिकार उठकर ऋणीका स्वामित्व उसपर प्रधान हो जाता है, इस दशामें ऋण लेनेवालेके हाथसे उस सम्पत्तिको कोई हानि पहुंचे तो उसपर ऋण देनेवालेका कुछ वश नहीं रहता। यही जोखम है। जोखम भी कामोंके अनुसार तारतम्यता रखती है। नाव बनानेमें जो धन लगता है उसको घर-बनानेमेंलगे-धनसे अधिक जोखम होती है। बरफ बनावैं व न बिके सब गलकर नष्ट हो जाय, पर जो अन्न खरीदकर रखें तो अधिक दिन ठहरे, इसीतरह अनेक चीजोंमें पूंजीकी जोखम बहुत है और कितनियोंमें बहुत ही कम है। यही हाल धन उधार देनेमें भी जानो। उधार लेनेवालेकी स्थिति और वह काम जिसमें वह धन उधार लेकर लगावेगा जोखमकी अवस्थाको बदल देते हैं।

इसीसे व्याजके भावमें दो बातका ध्यान होता है एक तो पूंजीके व्यवहार करनेका बदला और दूसरी जोखम जो

ऋणद उठाता है। पाश्चात्य इतिहासोंसे और घटना-ओंसे प्रत्यक्ष है कि कभी २ राजसे ब्याजदर या वस्तुदर स्थिर होता रहा है या होता है पर इसमें अनेक हानियां हैं जिनका यहां कथन करना हमारे प्रान्तके बाहर है।

उधार—ऋणदको उचित है कि जोखम और व्यवहारको देखकर उचित ब्याज ले और ऋणीके साथ कोई किसी अन्यायसे काम न ले, न ऋणीकी व्यवस्थामें अनुचित प्रतिबन्ध डालनेका कारण हो। यहां भी वही सिद्धान्त हैं जो स्थाई सम्पत्ति विनमयमें होने उचित हैं, केवल सामयिक भेद है। इसी तरह ऋणीका भी नैतिक धर्म है कि उचित समता ऋणदको दे और धनिककी व्यवस्थामें किसी अनुचित हस्तक्षेपका कारण न हो और न उस धनको किसी ऐसे काममें लगावे जिसमें लगानेका विचार ऋणी और ऋणदका व्यवहारके प्रसूतकालमें स्थिर न हुआ हो अर्थात् प्रतिज्ञाके प्रतिकूल ऋणीका ऋणमें लाये हुए धनको लगाना या व्यय करना अनीति है। जितनी जोखमका काम करनेको धन उधार लिया गया हो उससे अधिक जोखमके काममें न लगाना चाहिये क्योंकि न इस अधिक जोखमका बदला ही देना निर्णीत हुआ है न धनीकी सम्मति ही ली गई है। सम्भव है कि धनी किसी भावपर भी अधिक जोखमके कामके वास्ते धन देनेको राजी न हो। या जिस ब्याज दरपर उधार लिया गया है उसपर वह अधिक जोखमके कामके लिये न दे और ऊंची दर मांगे। फिर ऋणीको ऋण लाये हुए पदार्थकी रक्षा निज सम्पत्तिके समान ही करनी चाहिये। यह रक्षा चोरों दुष्टोंके प्रतिकूल बलसे, प्रयोगमें बुद्धिसे और मूलमें नीतिसे होनी चाहिये। जहां इस नीतिमें बाधा पड़ती है वहीं

अनर्थका बीज पड़ जाता है। ऋणीको निर्णीत समयपर धन लौटा देना चाहिये।

ऋण मुक्ति—निर्धनता, दिवालियापन, कङ्गालीके सबब क्या ऋणीपरसे ऋणका नैतिक बोझ उतर जाता है? पाश्चात्य नीतिके प्रभावसे हमारे आधुनिक विद्वानोंका मत चाहे इससे प्रतिकूल पड़े पर हमारी समझमें तो समयके अधिक हो जाने या कङ्गाली आदिसे ऋण बन्धन मुक्त नहीं होता। हां जो वास्तविक मनुष्य हृदयका धर्मनिष्ठ और निरुपाय निर्धन हो तो उसे न स्वयं अधिक दुखी होना और मानसिक व्यथासे बल बुद्धिको नष्ट कर लेना उचित है न ऋण देने वालेको उसे निष्फल सताना योग्य है। जो ऋणी जीता जागता शरीर और मस्तकसे ठीक रहेगा तो सम्भव है कि जब कभी धन उपार्जन करे हमें दे दे पर जो कमाने खानेसे बेकार कर दिया गया वह ऋण कहांसे देगा? जो ऋणीके पास देनेको हो और न दे तो वह अनीति करता है और समाजसे दण्डित होना चाहिये। पर ऋणीसे धनी अपने ऋणमें एक समयमें उतना ही ले सकता है जितना देकर ऋणी अपनी यथेष्ट जीवन यात्रा कर सकता हो इससे अधिक लेनेमें धनी मनुष्य पीड़ाकी अनीतिका दोषी होगा। मनुष्यका प्रादुर्भाव परोपकारके लिये है न कि पर पीड़ाके निमित्त। ऋण सम्बन्धमें कारागार दण्ड अन्याय है। परन्तु ऋणकी अपाकृति—सीमासे अधिक समय बीतने पर ऋणीको ऋण मुक्त करदेना—देशमें अधर्म, अन्याय, दिवालियों और अनीतियोंका सम्बर्धक होता है। जो ऋण प्रतिदानकी सीमा समाजसे न हो जब ऋणीके धन हो तभी अपना ऋण दे तो देशमें दिवालियोंकी संख्या न बढ़े। वर्तमान नियम मर्यादा सम्बन्धमें

बड़ी अनीतिके हेतु हो रहे हैं। इस नियमके कारण बहुतसा धन खेल तमाशा, दुराचार, दुर्व्यसन आदिमें नष्ट हो जाता है और ऋणीका भार न्यायालय अनेक प्रकारकी न्याय रचनासे उतार देता है। जितना ऋणोचित कठोर बन्धन होगा उतने ही मनुष्य श्रमी चतुर और सदाचारी मितव्ययी होंगे। इन्हीं सिद्धान्तोंमें घर, कपड़ा, गहना मकानी या किरायेपर देनेकी बाबत भी समझ सकते हैं। जो किरायेपर लियाहुआ रथ, घोड़ा या मकानोंका गहना कपड़ा लेने वाले-की असावधानतासे कुछ नष्ट हो तो वह उस हानिको स्वयं उठावे न कि मुख्य स्वामी।

एक रीति बीमेकी बहुत कालसे चली आती है आजकल उसके रूपान्तर भेद बहुत बढ़ गए हैं। देशके धनमें आग पानी इत्यादिसे जो हानि होती है होती ही है बीमा उसे समष्टि रूपसे कोई लाभ नहीं पहुंचा सकता पर व्यक्तिक सहायता परस्पर होनेके कारण हानिं बंट जाती है और बीमाके बदलेमें धन देना है वह मानो बीमा बेचनेवालेका लाभ है जो बंट जाता है इसी हानि लाभके बंटकरने व्यक्तिक दुःखोंके घटानेसे बीमाकी प्रथा बुरी नहीं अच्छी है पर इसमें उभय पक्षमें ठीक धर्म्मानुकूल दृढ़ प्रतिज्ञाके साथ काम होना बहुत अभीष्ट है।

किसी कारखानेके नौकरोंको स्वामिभक्त, श्रमी और कार्य्य शुभचिन्तक बनाये रहनेको स्वामीका यह बीमा लेना कि जो अपने वेतनमेंसे)॥ रु० स्वामीके पास जमा करेगा उसे इतना ही स्वामी देगा और इस धनयोग पर अमुक दरसे व्याज मिलेगा और नौकरके पृथक होनेके समय अथवा विवा-हादि अवसरोंपर नौकरको यह धन मिल जायगा किन्तु जो नौकर दुराचारी, दुष्ट और स्वामीको हानिप्रद प्रतीत होगा

वह न पायेगा—बहुत लाभप्रद है। पुराने नौकरोंको उनकी सन्ततिको धन देनेकी प्रथा एक नैतिक बीमा है जो समाजको उभय पक्षसे लाभ पहुंचाता है। (॥) जहां बदला अदार्विक (गैर माद्दी) हो जैसे :—

स्वामी और सेवक—सेवक बदलेमें श्रम देता है द्रव्य नहीं।

दुकानदार और दलाल—दलाल अपने श्रमका बदला पाता है।

प्रमुख्य और प्रतिनिधिकर्त्ता—मुनीम, आढ़ती, अन्तर प्रमुख्य। स्वामी सेवक दलाल दुकानदारके नैतिक धर्म उसीतरह जगत् प्रसिद्ध हैं जैसे प्रमुख्य और प्रतिनिधिके, इनपर अधिक कहना नहीं केवल यह बतला देना है कि प्रतिनिधि तीन प्रकारके होते हैं--एक वही नौकर जो स्वामी अपने स्थानपर रखे किन्तु इसका दायित्व साधारण नौकरोंसे अधिक होता है।

दूसरे आढ़ती जिसे कामका कुछ बदला दें वह हमारा काम करे और इसी तरह और चाहे जिसका काम करे या अन्य व्यवहार भी करे पर प्रतिनिधिका नौकर होता है अन्य उसी कामको अपने लिये करनेका अधिकार नहीं है जबतक प्रमुख्यसे आज्ञा न प्राप्त करले।

तीसरे अन्तर प्रमुख्य—हमने यहां तेल बनाना व बेचना आरम्भ किया दूसरी जगहपर भी हम दुकानदारोंको तेल भेजते हैं वह हमारे ही नियमोंके अनुकूल व्यापार चलाते हैं पर हमारी नफामें एक अंश पानेके भागीदार होते हैं और हानिके दायी नहीं होते। अधिक काम चलनेसे अधिक, कम काम चलनेसे कम लाभ उन्हें होता है। प्रमुख्य अपने अन्तर्य्यके प्रत्येक कृत्यका दायी होता है पर अन्तर्य्य (Agent) जिस कामके निमित्त हैं उसके सिवा किसी बातका उत्तरदाता नहीं।

हमारे नौकरको जो धन उगाहनेको रखा गया है कोई धन दे और वह खो जावे तो हमको उसकी हानि उठानी पड़ेगी पर जो हमारे कहारको जो उस कामके वास्ते नहीं है कोई धन दे और वह हमें न देकर स्वयं खा जावे तो उसके दायी हम नहीं हैं जिसने वे समझे अयोग्य हाथोंमें धन सौंपा वही दायी है। व्यापारीका काम है योग्य हाथोंको काम सौंपना और प्रति व्यापारियोंका काम है कि जो हाथ जिस कामके निमित्त हैं उनसे यथावत समझकर काम करें।

हम समझते हैं कि नैतिक स्वत्व और दायित्व जो इन सम्बन्धोंसे पैदा होते हैं जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे अच्छीतरह समझ सकते हैं। यदि किसी बालकको पढ़ाना हो तो उससे अभ्यासकी भांति इनका अधिक विवरण लिखाकर पाठकको देख लेना चाहिये प्रत्येक सम्बन्धके स्वत्व और दायित्वका सविस्तर उल्लेख यहांपर दुस्साध्य है।

वकील और मुवक्किलमें, राज परिषद्, विद्या परिषद्, न्याय परिषद् (जिनको राजार्य्य, धर्म्मार्य्य, और विद्यार्य्य सभा भी कहते हैं) में भेजे हुए प्रजा प्रतिनिधियोंका—या इनके किसी उपविभाग सभा या उपपरिषद्में—काम अन्तर्य्योंका काम है। कोई विद्याचातुरी, कोई धार्म्मिकता, कोई शासन चातुर्य्य, कोई युद्ध चातुर्य्यके कारण प्रतिनिधि बनाया जाता है वह दायी है कि अपने किसी कामसे अपने निर्वाचकोंके अविश्वासका कारण होनेके सन्देहका अवसर न दे।

अनुवाक ४

"सामाजिक हस्ताक्षेप।"

हम कह चुके हैं कि मनुष्यके पास जो कुछ भी है वह उसकी व्यक्तिक और सामष्टिक हस्ताक्षेप रहित निज स्वतन्त्र

सम्पत्ति है। वह उसको विना किसी अन्यको हानि किये चाहे जैसे काममें लावे। किन्तु इस स्वत्वमें भी व्यक्ति या समाज हस्तक्षेप कर सकता है और यह हानि बड़ी हानि है क्योंकि इसका कोई उपचार नहीं। संसारमें समाजसे बड़ी और कोई शक्ति नहीं है। यदि समाज अन्याय भी करे तो उसके विरुद्ध चीत्कार सिवा ईश्वरके और कोई नहीं जिसके पास ले जाई जाय। इसीपर बहुत सूक्ष्म विचार इस अनुवाकमें करेंगे।

विचारमें रखना होगा कि जिस निर्दोष स्वसम्पत्ति व्योहार स्वातन्त्रका अधिकार मानवी इच्छापर हमने ऊपर स्थिर किया है वह जब मनुष्य किसी समाजका सदस्य होता है तब कुछ सम्बन्ध प्रतिबन्धोंसे परिवर्तित हो जाता है। सभ्य समाजोंमें नियमसे विशेष दशाओंमें विशेष सुख सुविधा व्यक्तियोंको पहुंचानेकी पारस्परिक प्रतिज्ञा होती है। इन नियमोंके पालनमें व्ययकी चाहत होती है, बिना व्यय ऐहिक कोई भी काम साधित नहीं हो सकते-जैसे न्यायालय, शासन प्रणाली बनानेवाली सभा, रक्षक समूह; इन सबोंसे जो लाभ उठावेगा उसे इनके व्ययका भी भार उठाना ही पड़ेगा। चाहे तो कोई समाज बद्ध होकर रहे नहीं पृथक चला जाए पर जो मिलकर रहेगा उसे तो समाजके नियमोंका अन्य सदस्योंके समान पदबद्ध (पाबन्द) रहना ही होगा। जब कोई पदार्थ जो श्रम जन्य हैं बेदाम नहीं मिलते तो सामाजिक सुख सुविधा जो महान परिश्रमके फल हैं सेंत कैसे मिल सकते हैं। अतः समाजके स्थैर्यके निमित्त हमें अपनी पांतीका बलि देना होगा, फिर समाज अनेक अन्य कामोंके निमित्त बलि लेनेको संगठित व प्रतिज्ञ होती है, जिसपर समाजका

स्थैर्य्याधार तो नहीं होता वरन वे समाजको श्रेयस्कार होते हैं। और जो व्यक्ति उनमें मिलता है उसे भी इस प्रतिज्ञाके अनुकूल निर्वाहित होना पड़ता है नहीं तो वह समाजमें एक दिन भी अतिवाहित न कर सके। लेकिन इस बुद्धिसे समाजके कल्याण करनेकी प्रथा पोषक कार्य्योंमें सीमा होती है। बहुमत्ताकी प्रधानताका मान्य अवश्य होता है और करना ही पड़ता है प्रत्युत कोई अधिकार बहुमत्ताको ऐसा नहीं है कि अपनी सीमाका अतिक्रमण करे। इस विषयका कथन पृथक किया जायगा। यहां यही दिखलाना अभीष्ट है कि समाज जहां आत्मस्थैर्य्यके निमित्त बलि लेती है वहां इसके अतिरिक्त भी समाज श्रेयस्कर गुणके आधारपर अन्य बलियां भी ले सकती है।

समाज स्वस्थैर्य्यार्थ जो कुछ भी ले उचित है और प्रत्येक व्यक्ति उसके देनेका वाध्य है चाहे उसकी निज सम्मति उसमें ली गई हो वा नहीं पर सहगामी भाइयोंकी बहुमत्ताके आधारपर ही वह देनेको वाध्य होगा। इसके अतिरिक्त जो बलि समाज मांगे वह समाज व्यक्तिकी स्वतन्त्र इच्छासे ले। यह नियम स्वयं ऐसा नहीं मिल सकता जो व्यक्तिक सर्वस्व समाजके हाथमें सौंपनेवाला न हो। अर्थात् ईश्वर प्रदत्त मानवी स्वातन्त्रको बिलकुल नाश न करता हो। अब इस दशामें स्थिति यह होगी कि समाजका स्वस्थैर्य्य रक्षाके निमित्त व्यक्तिक सम्पत्तिपर स्वत्व होता है—अथच—उन सब दशाओंमें भी जब कि व्यक्तियोंने समाजको ऐसी शक्ति स्वसम्पत्तिपर प्रदान कर दी हो लेकिन उन्हीं अभीष्टोंके लिये जिनके लिये कि यह शक्ति प्रदत्त हुई है।

फलतः यह व्यक्तियोंका कर्तव्य है कि सम्पत्तिको उक्त प्रतिबन्धान्तरगत अपने वशमें रखें अपने हस्तगत रखें। और उन बलियोंको जो वह सबके सम्मिलित सुखोंके लिये समत्वमें (पूर्ण बदलेमें जो समानता स्थिर रखनेवाला हो) देना हो उदारतापूर्वक दे दें। बिना स्वत्वके दायित्व और बिना दायित्वके स्वत्वका होना असम्भव है। किसीको दूसरेसे किसी चीजके पानेका कोई अधिकार न्याय द्वारा नहीं है जबतक कोई बदला न हो।

सुतराम्—व्यक्तिका यह कथन दुरुस्त है कि मुझपर कोई कर या वलि न लगाये जायं जो उक्त दो विभागोंमें न आते हों अर्थात् उक्त दो दशाओंके सिवा मुझपर कोई भार न्याय पूर्वक नहीं डाला जा सकता और न डाला जाय। और हम यह भी कह सकते हैं कि व्यक्तियोंपर समाजिक भार किसी न्यायोक्त नियमके आधारपर होना चहिये। इस नियम वा शासन धाराका आधार यथा सम्भव इस सिद्धान्तपर होना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्य समाजसे जितना लाभ उठाता है उसीके अनुकूल बदला देनेको वाध्य किया जाय। यह लाभ यातो शारीरिक होते हैं या धन सम्बन्धी जिसमें तन सम्बन्धी (शारीरिक) लाभ तो सबके समान ही होते हैं अतः जो अन्तर इसमें हो सकता है वह धन वा सम्पत्ति सम्बन्धमें। चोरों, डाकुओंसे रक्षाकी आवश्यकता धनिकोंको होती है वे कर दें पर गरीबके धन नहीं है तो रक्षा किसकी और तदर्थ कर कैसा? इस दशामें समाज व्यक्तिक स्वत्वको प्रत्यक्ष ही भङ्ग करती है जो सबसे एकसा नियमित कर लेती है।

राज्यके द्वारा जो कि समाजका अन्तर्ध्य (agent) होता है कर प्राप्त करना व्यक्तिक सम्पत्तिका थोड़ा थोड़ी या केवल

कार्य्यवाहक की इच्छापर निर्भर करके नष्ट करना नहीं तो क्या है? ऐसी बातें प्रायः एक व्यक्तिक अन्यायी शासनोंमें होती हैं। जब स्वेच्छा चारितासे धोका धोकी या शासन धाराके बहाने किसी व्यक्तिकी सम्पत्ति, जो ऐसे कामके वास्ते जो चाहे अच्छा हो या बुरा, ली जाती है; सामाजिक स्थैर्य्यके लिये नहीं होती—विशेषतः जबकि समाजने इस बात की सम्मति न दी हो कि धन इस काममें लगाया जाय। न हम इसे लोक सम्मति कल्पना करके ही मान सकते हैं, सिवा इसके कि जब आवश्यक व्ययके लिये धनकी चाहत पड़े; जैसा ऊपर दिखा चुके हैं।

जब तक समाज इसका कारण ठीक ठीक आत्मरक्षा न सिद्ध कर दे उसको कोई अधिकार नहीं है कि किसी व्यक्तिकी सम्पत्तिको छुए। हां, यदि लोक मतके अनुसार काम हो या समाज स्थैर्य्यके ही निमित्त अवश्यकता हो तो दूसरी बात है।

बहुधा कर लेनेके उचित आधारपर भी सम्भव है कि समाज व्यक्तिक स्वत्वको भङ्ग करे; वह इस तरह कि कर-भागा-रोपण समुचित न करे कि यथार्थ रूपसे किसपर कितना बोझ डालना चाहिये जैसे आजकल आय-करकी (Incometax) प्राप्तिमें नित्य देखा जाता हैं।

हमारी ऊपरोक्त प्रतिज्ञानुसार दूसरेको कष्ट दिये बिना प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति जैसे चाहे काममें लावे; सोसाइ-टीका कुछ सरोकार नहीं हो सकता। क्योंकि किसी पर-हानिकर कृत्यमें तो लगाया ही नहीं जाता, तब सम्पत्तिका मालिक अपनी मरजीसे चाहे जहां जिस काममें लगावे अर्थात चाहे जिस रीतिसे व्यय करे। इस सामाजिक विचारसे तो यह बात

सामान्य है; प्रश्न केवल यह रह जाता है कि उसकी सम्पत्तिकी रक्षामें समाज कितनी सहायता करती है। अतः इस समता न्यायको छोड़कर, जो बलि दूसरी रीतिपर किसी कार्य्य विशेष, व्यवसाय विशेष या पदार्थ विशेषपर लगाई जाय तो अलबत्त कर देनेवालेकी चीत्कारका निदान होगा क्योंकि उसे इतना बोझ उठाना न पड़े जिसका एक अंश ऐसा हो जिसका समाजको अधिकार नहीं है। जब कि सम्पत्तिका मूल्य स्वतंन्त्र प्रयोगपर आधार रखता है जिसका कि सम्पत्तिके स्वामीको अधिकार दिया गया है कि जैसे चाहे काममें लावे पर परहानिकर न हो तो समाज इस स्वत्वमें हस्तक्षेप न करे; कोई तो इसीमें आनन्द मानता है कि वह इकट्ठा कर कर धरता जाय, कोई दूसरोंकी सहायता और उपकारमें, कोई विद्यानोन्नतिमें, कोई धर्म प्रचारमें खर्च करें। हर एकको उक्त तर्कानुसार समान स्वत्व इस बातका है कि जो उसका है उसे वह ठीक अपनी इच्छानुसार खर्च करे। जो समाज धींगा धींगी उसको बाध्य करता है कि अमुक रीतिसे अपने धनका व्यवहार करे तो अन्याय करता है। किसी व्यक्तिको अपने धनको स्वधर्म्म प्रचारमें लगानेसे रोकना वैसा ही महान अन्याय है जैसा दूसरी तरह सम्पत्ति स्वत्वका भङ्ग करना या ऐसी शासन धारा बनादेना कि एक कृषक ४ से अधिक बैल न रखे या कोई वस्तुनिर्म्माता ५ से अधिक कारीगर न रखने पावे या कोई आदमी अपना माल इस भाव बेचे इत्यादि।

मण्डल चार।

अनुवाक १

चलन। नय।

किसी व्यक्तिकी वर्तमान नैतिक, सामाजिक और वैवेकिक दशाका नाम चलन है। इसमें उसकी मूल प्रक्रिया, उसकी योग्यताएं, उसके स्वभाव, उसकी वाञ्छाएं, उसके झुकाव (Inclinations & tedencies) उसके नैतिक भाव और इसी तरह हरेक और जो बात वर्तमान मनुष्यमें समावेशित होती हैं चालमें सम्मिलित हैं जैसे उसकी भविष्यमें उत्तम दशा प्राप्तिके उपायोंकी प्रयोग शक्तियां। इसमें तर्क व्यर्थ है कि चलन, इस अर्थमें जो हमने परिभाषित कर दिया है, सर्व सम्पत्तियों और अधिकृतियोंमें उत्कृष्टतर हैं जिन्हें मनुष्य अपनी कहनेका अभिमान करसकता है, यही मूल द्वार है, यही मुख्य साधन है जिससे किसी व्यक्तिके ऐहिक व वर्तमान सुख दुख प्रसूत होते हैं और वह उन्हें भोगता है और यही उन सब सुख दुखोंकी मूल प्रसवनी है कि जो वह किसी बातसे आगेको या परमार्थके निमित्त डरता वा आशा करता है।

इस दशामें आकर बुद्धि हमें प्रबोध करती है कि हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपनी सारी शक्तियां अपने पड़ोसियोंके चलनके सुधारमें लगावें अर्थात् अपने वशभर अपने सहगामी मनुष्य भाइयोंमें सदाचारोन्नति करें, यही उपकारका प्रधान पद है। यही आर्य्यधर्मका प्रधान व्यवहारिक सम्पाद्य उद्देश्य है। अन्योन्यता (पारस्परिकत्व) हमें केवल दूसरोंके चलनपर चोट करनेसे रोकती है। इस रोकके कारण प्रकट हैं। कोई मनुष्य स्वाचरण या चलनको बिना ईश्वरीय नियमके

भङ्ग किये आघात नहीं पहुंचा सकता, न बिना उन कारणोंके उत्पन्न किये कि जिनका परिणाम मानव नियमोंका भङ्गीकरण होता है। जो किसी तरहपर भी इस दोषका इच्छापूर्वक कारण होता है वह पापके एक भागका भागीदार होता है, नहीं नहीं बहुधा तो बृहद्भागका अधिकारी होता है। जो किसीको आत्म हत्याकी रुचि दिलाता है वह ईश्वरकी दृष्टिमें हत्याका पापी होता है. एवं जो जो दूसरेको दुष्टताकी ओर उत्तेजित करता है और दुष्टता करनेके निमित्तोंको किसीके मनमें उत्पादित या समावेशित करता है परमात्माकी दृष्टिमें वह उस पाप कृत्यका दायी होता है और उसके दुष्परिणाममें कम अंश नहीं पाता। अब उन कारणोंको देखो जो मनुष्यको एक दूसरेके चलनपर आघात करनेकी ओर प्रवाहित करते हैं, या तो यह विशुद्ध दुष्टता होती है, या षड़ विकार, अथवा मूढ़, अन्धतमसावृत, अचेत आत्म-परितुष्टि। (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर षड़ विकार कहे जाते हैं)।

पहिले डाहको ही लीजिये। कितने ही लोग मानवी दुष्टताकी साधारण सीमासे इतने बढ़ जाते हैं कि झूठे शत्रुवत हिंसक सुखकी प्राप्तिके लिये—अपने समान ही—निर्दोषोंको सन्मार्गसे हटाकर, बहकाकर, छलसे लोभित करके, अपने नैतिक अधः पतनकारी कार्य्यकी सिद्धिपर बहुत ही अहमित होते हैं। वह एक व्यक्तिको अपने रङ्गमें बदलकर लानेको धरती आकाश एक कर मारते हैं और जब वह उनमें परिवर्तित होकर आ जाता है तो उसे अपनेसे दूना दुष्टराज बना छोड़ते हैं। ऐसे कृत्यों और ऐसे कृत्योंके कर्त्ताओंको समुचित बुरे शब्दोंमें बतलाने और पहिचान करानेके लिये किसी भाषामें भी हम

समझते हैं, उपयुक्त शब्द या योग्यता नहीं है। यह दुष्टता वह दुष्टता है जिसका कुछ बहाना या कारण वा बचाव नहीं।

एक आदमी अपनी आत्म तुष्टिके अभिप्रायोंकी कुछ सिद्धि चाहता है और दुर्वासनाओंमें पड़ता है, चाहे शक्ति परिवर्द्धनार्थ हो या स्वगर्वपोषणार्थ, इस वासनाको पूरी करनेकी ओर झुकता है और एक अपर दायित्व युत प्राणीको सदाके लिये पतित कर देता है, उसे पृथिवीपर आगेके लिये एक अनैतिक राह खोल देता है और दोनों पापी होते हैं। इस दुष्टको किसने अधिकार दिया था कि परमात्माकी प्रजामें ऐसा भयानक बरबादीका काम अपनी अपवित्र और क्षणिक परितुष्टिके लिये करे? क्या सबका शासक वह न्यायाधीश राजराजेश्वराधिप इसको कठोर दण्ड न देगा? इसी भावसे भरी हुई धार्म्मिक शिक्षाएं हैं। इन दुष्टोंको नाना प्रकारके दण्ड परमात्मासे होना धर्म ग्रन्थोंमें पाया जाता है, यहांपर उद्धृत करनेकी आवश्यकता नहीं। कर्मयोगके सिद्धान्तान्तरगत हम गीतामें, उपनिषदोंमें और सर्वधर्म-मूल वेदोंमें इसको पाते हैं अतः नैतिक शिक्षा यही होती है कि किसी बहानेसे, किसी रीतिसे, किसी कारणसे दूसरेके चलनको हम जान बूझकर इच्छापूर्वक न बिगाड़ें क्योंकि ईश्वर निषेध करता है। यह निषेध आज्ञा दो प्रकारसे भङ्ग की जा सकती है।

(१) मनुष्योंके नैतिक बन्धनोंको ढीला करके।

(२) मनुष्योंकी दुर्वासनाओंको उत्तेजित करके।

अब प्रथम भेदकी बाबत देखें तो हम कह चुके हैं कि ईश्वरने अन्तरात्माको इसलिये बनाया है कि उसके द्वारा कुवासनाएं रोकी जावें। अन्तरात्माकी यह प्रतिरोध शक्ति

प्राकृतिक और ईश्वरीय ज्ञान प्रकाशित वैदिक शिक्षाओंसे आनीत सिद्धान्तों,गुरों और अभीष्टोंसे सम्वर्द्धित होती है ।

अतः जो कोई किसी प्रकारसे किसी दूसरेकी नैतिक समझोंको गोठिल या भोंटी करता है अथवा उस नैतिक सत्यताको जिससे यह समझ कर्ममें नियोजित होती हैं घटाता है, वह अपने सहगामी (जीवन यात्रामें साथ चलने वाला = Fellowbeing) मनुष्योंके चलनपर स्थाई आघात पहुंचाता है। यह बात बुरे आदर्शों से भी होती है। मौखिक हो या लेखिक जब सत्यासत्य, उचितानुचित व कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक खुले या छिपे शब्दोंमें निन्दनीय भावसे वर्ते जाते हैं अर्थात् विवेक या भले बुरेके परिज्ञानकी अवज्ञा की जाती है तो उसका यही बुरा फल होता है—चाहे यह दुष्कृति वैदिक आज्ञाओंके पालनको सिथिलकारी हो, या नैतिक करणीयोंकी व वेदोंकी हंसी उड़ानेवाली हो, चाहे धर्म्मान्धकता, पुरोहिती कैतव या आड़में दुराचार सिखाने वाली हो, या कि इनका मिथ्या बहाना लेकर यथार्थ कृत्योंको मिटाने वाली हो, चाहे ईश्वरके महत्वपर ऐसी बातें करना हो जिससे यह झलकता हो कि वक्ता प्रजाके धार्मिक और नैतिक कृत्योंकी प्रतिष्ठा नहीं करता और यह संकेत करता है कि मनुष्य स्वेच्छाचारी होकर रहें—सबका यही मतलब होता है कि धर्म और सदाचार, आत्मोत्सर्ग व आत्म इनकार एक व्यर्थ, अकारण आमन्त्रित कष्टमात्र है। इस प्रकारसे नीति धर्म पालनमें प्रजामें सिथिलता होती है और अधर्म व अनीतिकी वृद्धि होती है।

इस प्रकार नैतिक हानियों और उनके फैलाने वालोंसे हमें अपनी रक्षा करते रहना चाहिये। जो दुष्ट अभ्यस्त पापिष्ट होता है, (स्त्री हो या पुरुष) वह अपने जालमें

फंसे हुए को अपने काम सिखलाकर गुरुघण्टाल बनानेके पहिले उसके सिद्धान्तोंका नाश करता है। जब तक वास-नाओंको उत्तेजित करके विक्षिप्त बनाने और दुराचारोंकी ओर लोलुप करनेसे धीरे धीरे अन्तरात्मीय नैतिक प्रतिरोधको चुपके चुपके हटा न दिया जाय व मनको बे बचाव और रक्षा पलसे बाहर न ला डाला जाय यह बात नहीं हो सकती कि कोई दुष्टोंमें सम्मिलित होकर दुष्टता करने लगे। क्रमशः जब किसी दुष्टको पहिली बातमें कृत्यकार्य्यता होती है तो फिर वह दूसरी बातोंमें भी सिद्ध हस्त हो जाता है।

लड़कों लड़कियों व जवान सभी स्त्री पुरुषोंको सावधान-तासे हमारी यह बात गुप्त रखनी चाहिये कि जब उनसे कोई ऐसी बात कही जाय या पत्रमें लिखकर या बुरे ग्रन्थों द्वारा पढ़नेको सामने लाई जाय, तो उन्हें देखना चाहिये कि यह बात कुछ किसी तरहसे ऐसे भाव विशिष्ट तो नहीं है कि जिससे सदाचार बन्धनका व्यर्थ होना झलकता हो या नैतिक बन्ध-नोंके तोड़ने और वैदिक आज्ञाओंके भङ्ग करनेकी ओर तो झुकानेवाली नहीं है, यदि ऐसा हो तो उसे न सुनें न पढ़ें और न ध्यान दें वरन तत्काल ही स्मरण करें कि परमात्माकी प्रजा उसके नियमोंकी प्रतिष्ठा करने व उनके अक्षरशः पालन करनेके निमित्त बनाई गई है यदि इसमें कोई त्रुटि करता है तो वह न केवल ईश्वराज्ञा विरोधका ही पापी होता है वरन अन्तरात्मघात, आततायि कर्मका करने वाला बनता है व इस जगत और परलोक दोनोंमें जीवके लिये असीम और अनन्त दुखोंको मोल लेता है।

(२) दूसरे अङ्कपर विचारें तो किसीकी बुरी वासना-ओंको उत्तेजित करना चार तरहपर होता है:—

(क) भावोंका दूषित करना। पहिले मनुष्यके भाव दूषित होते हैं। बुरी बातोंको भावता है, बुरी बातोंके अर्थोंको बारम्बार विचारमें लाता है। जैसे छोटे लड़के लड़कियोंको अश्लील गान सिखाना सुनाना उनके सामने अश्लील बात करना अश्लील पुस्तकादि पढ़ना उनके कानों तक बुरे शब्द पहुंचाता है, जिसके अर्थोंको वह सोचते हैं; जाननेकी चेष्टा करते हैं, और परिज्ञान होते ही भाव दूषित होने लगते हैं। यों दुराचारकी भावना, कल्पना, ख्याली पाप उनमें पैदा होकर बढ़ने लगता है। फिर बुरे आदमियों, बुरी छवियोंके सामने आनेसे भी भाव दूषित होकर दुर्वासनायें उत्पन्न होती हैं और छिपे छिपे भीतर ही भीतर मन पाप परिचित हो लेता है। अतः जो बुरे ग्रन्थ लिखते हैं, प्रकाश करते हैं, छापते हैं, बेंचते हैं या पढ़नेको देते हैं चाहे किसी नाम व बहानेसे क्यों न हो और बुरी छवियां या तसवीरें खींचते हैं, बेचते हैं, दिखाते हैं, घरोंमें लटकाते है सब महापापी दुष्ट हैं। यह दुष्ट लोग आदमियोंके दुराचारी बनानेके निमित्त होते हैं।

(ख) दूसरोंकी तृष्णाओंमें योग दान करना। जबतक मानवी तृष्णामें वाह्य सहायता नहीं होती प्रायः उसकी अन्तरात्माकी ही अनुज्ञा ऊपर रहती है। पर जब वाह्य लालच तृष्णाशक्तिमें प्रयुक्त होता है तब बुद्धि और अन्तरात्माकी रोकें बहुत निर्बल सिद्ध होती हैं और बुराई व पापके प्रबल वेगवान झुकावको यथेष्ट नहीं रोक सकतीं। जैसे भूखा चाहे भोजनकी प्रबल कामना रखता हो पर उसका मन अखाद्यकी भावना कभी नहीं करता क्योंकि कभी खाया ही नहीं, पर जब अखाद्य पदार्थ उसके सामने प्रस्तुत करके रख

दिया जाता है तब अखाद्यकी ओर उसका इतना झुकाव होता है कि उसकी बुद्धि व अन्तरात्माकी शिक्षाको वह अधिकांश मेटनेको उद्यत हो जाता है। अतः जो ऐसे पापिष्ट कर्मों के साधन सदाचारियोंके सामने प्रस्तुत करते हैं पापी हैं। इसीसे बाजारमें गणिकाओंका होना बुरा है। जो राज इस प्रथाको नहीं रोकता, स्वयं जो गणिका होती हैं और जो इन्हें किसी-तरह भी सहायता करते हैं वह समाजके निर्दोष नवयुवकोंके सामने लालच दिखानेवाले बुरे पदार्थोंको रखकर उनकी गुप्त वासनाओंको उत्तेजित करके उन्हें नष्ट करनेवाले होते हैं अतः तीनों महान् पातकी हैं। शराब या नशोंकी दुकानोंका खुले बाजार बेचना बिकवाना इसी तर्कानुकूल महान् पातक है।

(ग) दूसरोंको अपनी दुर्वासाओंकी तृप्तिके काममें लाकर और कुवासनाओंमें दूसरोंकी सहायता लेकर अपनी तृप्ति करके हम कभी ऐसा नहीं कर सकते कि सहायक दुराचारी न बन जाय। जो लड़का या नौकर नित्य मद्य लाता है, भङ्ग घोटता है, अभागिनी बाजारू कुलटाओंको बुलाकर लाता है वह निस्सन्देह, १०० में ९५ स्थलोंमें देख सकते हैं, कि स्वयं भङ्गड़, मद्यप और लम्पट हो जाता है। अतः जो अपनी दुर्वासनाओंकी क्षणिक परितुष्टिमें दूसरेकी सहायता लेकर उसका जीवन विनष्ट करता है वह दुष्ट भी महा पापी है क्यों ईश्वरकी प्रजाको अधर्मी बनानेका निमित्त बनता है।

(घ) मानवी दुर्वासनाओंकी सहायता करके। अमीरोंके पास बहुधा नौकर खुशामदी चापलूस होते हैं जो उनके दुष्ट कामोंकी प्रशंसा करके उनके मनोंको बढ़ा देते हैं। तृष्णा और वासनामें हमने यही अन्तर माना है कि जैसे

तृष्णा भौतिक पदार्थकी अधिक प्रत्यक्ष रूपमें होती है, वैसे ही वासना मनकी भावनामें ही होती है। इसमें धनी होनेकी वासना होती है और धनकी तृष्णा होती है। वह भाव सूचक शब्द है यह द्रव्य। शरीर और जीवमें जैसा अन्तर है वैसाही इनमें जानना चाहिये।

बहुधा हम चीता-यार बनाकर दूसरेकी लालच, लालसा, पक्षपात, अभिमान और शेखीको उकसाते हैं क्योंकि उनकी तर्क हीन अन्तरात्मापर हमारा प्रभाव शीघ्र पड़ता है। इसीको मानवी 'प्रकृतिका जानना और उनके निर्बल पार्श्वोंका पहिचानना' कहते हैं। बहुधा कहते सुनते हैं कि अमुक मनुष्य बड़ा चतुर व चालाक है; कैसा ही आदमी क्यों न हो झट उसे अपने ढङ्गपर ले आता है, उसपर अपना रङ्ग चढ़ा छोड़ता है।

अब हम इस तृतीय पादके उपान्तिक मण्डलको, एक वाक्यावलि जो हम बिना कहे नहीं रह सकते लिखकर, समाप्त करते हैं।

जो महाशय जगन्मण्डलके मनुष्य जाति मात्रमें सामान्यतः, और विशेषतः, परम पुनीत प्राणसे अधिक प्रिय जननी जन्मभूमि प्रसूत सहोदरोंमें धर्म्म व सदाचार सम्पन्न समाजोंके अभीष्टोन्नतिके परमाभिलाषी हैं उनसे हम बल पूर्वक निवेदन करते हैं, सम्मति देते हैं, हठात् उन्हें दबाकर कहते हैं कि किसीको कोई अधिकार नहीं है कि किसीके सामने कोई ऐसा कारण उपस्थित करे जिससे उसका भाई (मनुष्य या देशवासी) किसी कामकी ओर प्रवाहित हो सिवा इसके कि कारण और कार्य्य दोनों ही निर्दोष हों। वे दुष्ट हैं जो कोई काम दल बन्दी पक्षपात, मिथ्याभिमान, शेखी-

चोरी और बड़ाईकी भूखसे, चाहे यह वासनाएं कैसी ही क्यों न हों. करते हैं। वह मनुष्य कभी चलनवाला नहीं है इसमे चलनको यहां जिस भावार्थमें लिया है वह उसमें कदापि नहीं कहा जा सकता। चोर. डाकू, बदमाश, छली, हत्यारा, स्वत्त्ववञ्चक, पक्षपाती, अन्यायी. दुराचारी, लम्पट, अभिमानी, दूसरेके धराधामको छीननेवाला, हिंसक, वेद-तत्त्वविरोधी चाण्डालोंका तो कहना ही क्या, वह तो भावते हैं, दूसरोंसे कराते हैं, आप कुकर्म करके आदर्श बनते हैं लोगोंको चाटुकारसे इसमें रुचि दिलाते हैं। हत्यारा वैसा ही पापी है जैसा हत्यारेका सहायक। एक करोड़ व्यक्तियोंके साथ किसी देशपर डाका मारनेवाला समूह उतना ही घृणित है जितना सौ पचासका समूह एक ग्रामका लूटनेवाला वा दश पांचका या एक घर या जनको लूटनेवाला। लाखका चोर लाखके (Wax) चोरके समान ही दोषी है। दण्ड व्यवस्थामें न्यूनाधिक्य दूसरा सिद्धान्त है पर चोरी चोरी है डाका डाका है अन्याय अन्याय है। हाथके बदलनेसे कृत्योंका परिवर्त्तन नहीं होता। धर्म व सदाचारका काम पवित्र है यह काम ईश्वरीय काम, ईश्वरीय सेवा है, यह काम माताकी पवित्र सेवा है। अतः इस सेवाके करनेवालोंको मानवी ढोंगोंकी परवाह, मनुष्योंके मनोंकी प्रसन्नता पर वार होना, दरकार नहीं। जो इस कामका अग्रसर विधायक व प्रचारक है उसीके (ईश्वरके) बल पर चले जिसके कामका विधान या प्रचार उसने उठाया है। अपने कामको कामकी योग्यतापर टिका रहने दे प्रत्येक मनुष्यको उनकी निज इच्छापर छोड़ दे वे चाहें तो उसकी सहायता करें चाहे न करें। सत्यमें, पिता (परमेश्वर व पिता)

माता (भूमि व माता) की सच्ची सेवामें वह आकर्षण है कि पाहन सरिस महानसे महान कठोर व भारी मनोंको ऐसे खींच लेगा जैसे चुम्बक लोहे को। वह सूखी डालियोंमें फल लगा देगा और कृतकार्य्य करके छोड़ेगा। जो सत्यके भरोसे नहीं चलते कामोंको तोलकर उनकी योग्यताका विचार करके ही हाथमें लेते हैं उनके काममें लोग पड़ते डरते हैं सन्देह करते हैं और बाधाएं भी आती हैं। अतः आओ धर्म और सदाचारके निमित्त हम सत्यपर आरूढ़ हो जायं और आंख बन्द करके यावज्जीवन इन्हींके खातिर काम करें और इन्हींके वास्ते मरकर, पिता माताके सच्चे सुपात्र पुत्रोंमें जा मिलें।

धर्मको राखे सब रहे, गये धर्म सब जाय।
शुचि मन सिञ्चो धर्मको, फूले फले सोहाय॥

मण्डल चार।

अनुवाक २

न्याय और मानका सम्बन्ध।

देखा जा चुका है कि प्रत्येक मनुष्य ईश्वरीय नियमानुसार अपने शारीरिक श्रमके प्रतिफलके सम्भोगका अधिकारी है अर्थात उन प्रतिफलोंका, जो उन कार्य्य कारण नियमोंके अनुकूल काम करनेसे होते हैं जिनके अधिगत वह द्रव्य हैं जिनसे वह काम करता है। जैसे बीजको समय विशेषपर बोने और सिञ्चन रक्षणसे कोई धान्य पैदा करे तो वह अपने श्रमके प्रतिफलका बिना पर हस्ताक्षेप भागी है।

इसी तरह और भी प्रतिफल हैं जो इसी कार्य्य कारण नियमनुकूल प्रघटित होते हैं। इसी नियमके अधिगत मानवी

सम्मति, बुद्धि और कृत्य परस्पर होते हैं। इनसे उत्पन्न फल कुछ शारीरिक श्रम फलसे कम श्रेयस्कर नहीं होते। जैसे किसीने एक रथ अपनी बुद्धिसे तैयार किया वह रथ उसका है पर दूसरे लोगोंके मनोंमें उसको (रथ रचयिताकी) कारीगरी· से कुछ भावना पैदा होगी और सम्भव है कि इस बुद्धिबलके कारण जो भाव लोगोंका उसके ऊपर हो वह रथसे भी अधिक मूल्यावान और लाभ प्रद हो। क्योंकि इस भावसे सम्भव है कि भविष्यमें वह बहुतसा धन उपार्जन करनेके साधनोंको प्राप्त करले। अभी जिज्ञासु न केवल उस ज्ञानको काममें लानेका ही अधिकारी है जो उसने प्राप्त किया है किन्तु उस प्रतिष्ठाका भी अधिकारी है जो उस ज्ञानके स्वामित्वने उसे मनुष्योंमें दी है।

अब यह द्वितीय और लक्षित प्रभाव चाहे अन्य किसी कार्य्य कारण नियमाधिगत हो हों निस्सन्देह कार्य्य हैं किसी मौलिक कारणके, अर्थात स्वयं मनुष्यके चलन और कृत्योंके, और वह उसका वैसा ही अधिकारी है जैसा सीधे और प्रत्तक्ष प्रतिफलोंका जैसाकि हमने पहिली वाक्यावलिमें कहा। अतः किसी पुरुषकी जो प्रतिष्ठा मनुष्योंमें होती है उसको कम करना उसको प्रतिष्ठित पदसे नीचे खींचना, उसके बदनामीका कारण होना वैसा ही अन्याय है जैसा उसके धनका लूट खोस लेना। यह दोष अधिक गुरुतर यों होजाता है कि इस दुष्कृतिके कर्त्ताको कोई लाभ भी नहीं होता सिवा इसके कि मनकी दुष्टताको तृप्त करे।

हम कह सकते हैं कि एक आदमी उचितसे अधिक प्रतिष्ठित और दूसरा उचितसे कम प्रतिष्ठित गिना जारहा है तो

क्या हमारा धर्म नहीं है कि उनको उचित सम धरातलपर लावें ?

इसका उत्तर साफ है कि:—यदि किसीके पास कोई सम्पत्ति है चाहे वह उसके पास न्यायसे आई है वा अन्याय द्वारा पर क्या किसीको यह अधिकार है कि उसे छीनकर आप लेले या नष्ट कर डाले। हां यदि कोई अपना स्वत्व उस सम्पत्तिपर उससे अधिक बलवान सिद्ध करना चाहता है तो करे व न्यायपूर्वक ले। इसी तरह जो हम जानते हैं कि अमुक व्यक्तिकी उचितसे अधिक प्रतिष्ठा है तो हम आप अपनेको अधिक प्रतिष्ठाके भागी बनाकर दिखायें उसकी प्रतिष्ठा घट जायगी न कि उसकी प्रतिष्ठा कम करनेको और तरह उद्यत हो जावें जिससे उसके स्वत्वको जो उसका है, जिसपर हमारा कोई स्वत्व नहीं जबतक ऐसा सिद्ध न कर दें, हानि हो और हमारा कुछ लाभ भी न हो। वही सम्पत्त्याधिकार प्रश्न यहां भी उपस्थित है जो ऊपर कह चुके हैं। मनुष्यका अधिकार ही दूसरेके हस्तक्षेपका प्रतिरोधक है सिवा उसके कि जिसको छलकर उसने जमाया है। क्या चोरसे कोई यह कह कर या जानकर कि यह चोर है उसकी सम्पत्ति छीनकर ले सकता है जबतक सम्पत्तिका मुख्य (Original) स्वामी जिसकी यह चुराकर लाया हो सिद्ध न होले। कोई किसीकी प्रतिष्ठाको केवल इस वास्ते कम करनेका अधिकारी नहीं है कि मैं उससे अधिक प्रतिष्ठापात्र हूं। जो एककी प्रतिष्ठाको दूसरेकी प्रतिष्ठासे हानि होती है तो उसे उचित रीतिसे अपना दावा पेश करना चाहिये और न्याय ढूंढना चाहिये पर जहां न्यायकी इच्छाका लेश नहीं है वहां किसीकी बदनामी करना अवश्य अपराध है। नैतिक नियम यह है कि हम

किसीकी प्रतिष्ठा भङ्ग करने वाली बात मुंहसे न निकालें जबतक हमें पूरा पूरा कारण उपस्थित न हो। यहां एक रास्ता पूरे पूरे कारणका अलबत्त खुला है उसका कारण यह है कि अनेक अवसर होते हैं जब कि हमें ऐसी बात कहनी पड़ती है और अनेक अवसरों पर चुप रहना ही ठीक होता है जो हम आगे चलकर बतलावेंगे लेकिन अकारण अर्थात् बिना यथेष्ट कारणके या बुरे भावसे किसीकी प्रतिष्ठा भंग करनेका कारण होना अपराध है।

यह केवल पारस्परिक समता न्यायका विस्तार मात्र है। यह पारस्परिकत्व हमें आज्ञा देता है कि हम यही इच्छा सदा रखें कि प्रत्येक दूसरे मनुष्य भी बिना बाधाके वह बड़प्पन भोग करें जो उन्हें आदमी देते हैं और हम भी बाधा विहीन उस प्रतिष्ठाका सुख उठावें जो हमें समाज देता हो।

यहां हमारा उन बातोंसे मतलब नहीं है जो बेसमझे या दुर्नीतिसे दूसरेको बाबत मिथ्या कहा जाता हैं क्योंकि इस दशामें अप्रतिष्ठाके साथ असत्य बोलनेका पाप भी मिला होता है। यहां केवल अप्रतिष्ठा दोषका विचार हमारा काम है।

यहां यह भी कहा जाता है कि हमें उचित नहीं है कि हम अकारण किसीके दोषोंका ढिंढोरा पीटें। यहा पाप 'अकारण विख्यात' करनेमें है। जो स्वयं अपने बुरे कामोंका ढोल पीटे तो दूसरी बात है, वह स्वयं अपनी मर्य्यादाको घटाता है और उससे साधारणको बिना चेष्टा एकसी परिज्ञप्ति होती है। इसलिये जब हमसे कोई पूछे तो हम इतिवृत्तकी भांति कह सकते हैं लेकिन उसे हानि पहुंचानेके भावसे हमें उसके प्रकाश करनेका कोई अधिकार नहीं है।

जब कोई कुकर्म ईश्वरेच्छासे प्रकाशित हो जाता है तो वह इसी नियमान्तरगत होता है। हम चाहे जानते हैं कि अमुक मनुष्य बेईमान है पर यह जानकारी मात्र हमें उसके भांडा फोड़नेका कोई अधिकार नहीं देती। लेकिन जब उसकी बेईमानी न्यायालयमें सिद्ध हो चुकी हो तो मानो सब समाजने जान लिया फिर हम चाहे जैसे उसको कहें सुनें। पर तोभी किसी व्यक्तिके हानि पहुंचानेको या अपनी दुर्वृत्तिके सन्तुष्ट करनेको कहते हैं तो बुरा है। इसी तरह जो बात समाचारपत्रोंद्वारा जगद्विख्यात हो चुकी है और प्रतिवाद नहीं हुवा तो हम काम पड़ने पर शुद्ध अन्तः करणसे कह सकते हैं पर दुष्टतासे हानि पहुंचानेके लिये कहना बुरा है।

तीन बातें जान लेनी चाहियें।

(१) दूसरेकी अप्रतिष्ठा व बदनामी करना कर्त्ताके ही नैतिक चलनको हानिकारक होता है साथ ही जो सुनता है उसे भी हानि होती है। बुराइयोंका प्रगाढ़ परिचय हमारे मनकी वह ग्लानि जो बुराईसे होती है कम कर देता है। अनेकोंमें उसकी लगातार भावना, शत्रुता और निर्दयता सम्बर्धित करती है और अन्तमें जिस कामके करनेसे पहले मन सन्तापित होता था अहर्निश होने लगता है।

(२) वर्तमान अपूर्ण दशामें जब कि हरेक मनुष्य पहलेसे बहुत ज्यादा दोष करनेकी सम्भावना रखते हैं अर्थात् मनुष्य दोषसे खाली तो होता ही नहीं पर वर्तमान भारतमें जब कि वाह्य पापिष्टता हमारे दिलोंमें घर कर चुकी है मनुष्य कहीं न कहीं अवश्य भूल करता है। जो एक दूसरेके दोषोंकी ड्योंडी पीटेंगे तो समाजमें हरेकका जीवन निर्वाह दुस्तर हो जायगा और परस्पर द्रोह और वैमनस्य फैल जावेगा।

यदि माता, पिता, भाई बन्धु, चचा ताऊ, इष्ट मित्र, पति पत्नी अड़ोसी, पड़ोसी सब इस तरहसे जगतमें परस्परके दोषों और त्रुटियोंका प्रकाश करने लग जायँ कि जो देखे सुने या अनुमान कर ले सबका भण्डा फोड़ करे तो भला समाजका ठिकाना कहां लग सकता है?

(३) हम जब कोई दोष किसीका प्रकाश करें तो याद कर लें कि जो हम स्वयं उसके और वह हमारे स्थानमें होता तो हमें कैसा मालूम होता फिर हम न्याय करें तो पता लग जायगा।

(क) हमें उचित नहीं कि किसीकी कुकृत्य (Particular) विशेषसे उसके चलनकी बुराईका सामान्य (Universal) परिणाम निकालें। यह प्रत्यक्ष अन्याय है क्योंकि इस काममें अप्रतिष्ठा दोषके साथ साथ मिथ्या भाषण भी मिश्रित होता है। एक कामके देखनेसे किसीके चलन या स्वभावका पूरा निर्णय नहीं हो सकता। एक बार किसीको भङ्ग पीते देखा तो उसे भंगड़ कहना क्या अन्याय नहीं है? रोग, सङ्ग, दबाव आदिके कारण भी एक बार कोई भङ्ग पी सकता है पर दर्शकको कोई खरव या ठीक आधार इस बातके अनुमान करनेका नहीं है कि यह निश्चय ही भंगड़ है; सारे चलनकी बात तो एक तरफ रही—क्योंकि बदचलन कहनेमें अनेक दोषोंका आरोप होता है—चलन अनेक विभागोंमें विभक्त हो सकता है।

(ख) हमें किसीके कामपर अकारण बुरा भाव नहीं स्थिर करना चाहिये। अतः हमें याद रहे कि अच्छी भावनाका बल होते हुए भी हमारा किसीको, निर्दोषी छोड़, अकारण दोषी भावना अनीति है। साथहीमें किसी कामको

जिसे हम अच्छा मानते हों सिवा उस अच्छी भावनाके जिससे वह हुआ है कोई दूसरा भाव संयोजित न करना चाहिये।

हमें इसीके अनुकूल चलना उचित है कि जब हम किसी व्यक्तिकी बाबत अपनी निज सम्मति स्थिर करें तो अच्छे भाव व कारणकी उपस्थितिमें हठात् बुरे भावको धींगाधींगी किसीके सर न मढ़ें। जो हमें किसीके विरुद्ध अनीतिके सन्देहके अवसर भी उपस्थित हों तो हम उसे मनमें ही रखें जब तक हम उस दोषके प्रकाश करनेको उचित कारणोंसे बाध्य न हों। जब दूसरे हमारी बाबत सम्मति देनेमें इसी नीति द्वारा बंधे हैं तो हम अपनी सम्मतिको कैसे इसके विरुद्ध प्रकाश कर सकते हैं? जब हमें स्वयं अपने मनमें अकारण बुरा भाव स्थापन करनेसे नीति रोकती है तो इसका दूसरों पर प्रकाश करना या विश्वास करना कि दूसरे आदमी मान लें या विश्वास कर लें या अनुमान कर लें कि अमुकमें यह दोष है कितनी बड़ी नैतिक बुराई न होगी? धार्मिकता कभी बुरा चिन्तन नहीं करती और कभी अनीतिमें आनन्द नहीं मान करती।

सुमन सुमनसा प्रिय सुखद, औगुण गिने न जान।
कुमन स्वमनकी क्रूरता, करे नहीं भल मान॥
सुमन सदा नयमें निरत, लहै शान्ति विश्राम।
अनय देख मनमें कुढ़ै, चले न मारग बाम॥

उक्त नियमके कारण यह हैं:—

(१) जब तक मनुष्यके मनकी गति या अभिप्राय प्रकाश न हो सिवा शङ्करके कौन उसके मनकी जान सकता है? अतः किसीपर दूषित भाव अकारण अध्यारोप यही अर्थ रखता है कि जिस बातको हम नहीं जानते न जान सकते हैं

उसे इतिवृत्तकी भांति प्रकथन करते हैं अर्थात् झूट बोलते हैं। फिर इससे लाभ कुछ नहीं सिवा इसके कि या तो व्यर्थ बात बनानेका गाढ़ प्रेम मनमें है या मद मात्सर्य्यादिसे हम प्रवाहित होकर अपनी काल्पनिक दुष्ट वासनाओंको तृप्त करना चाहते हैं।

(ख) कोई और ऐसा अपराध जगतमें नहीं है जिससे हमें इतना उन्मीलित और प्रस्फुरित क्षोभ हो जैसा कि हमें अपने भावोंको असत्य प्रकाश करनेमें होता है। चाहिये कि त्वरित बुद्धि और पटु मनोज्ञता जो हममें है हमें इस पापसे सचेत कर दे, जब हम दूसरोंपर लाञ्छन लगाने लगें; नहीं तो हम अकारण पापके भागी बन जावेंगे।

(ग) इसी भांति हमें हंसी, दिल्लगी, नकल, वेश आदिमें भी अकारण किसीकी प्रतिष्ठामें न्यूनता वा बाधा न करनी चाहिये। हंसी उड़ाना बड़ी बुरी बात है। यह कहना कि 'जो दिल्लगी है हम कुछ हानि थोड़ीही पहुंचाना चाहते हैं बड़ी मूर्खताकी बात है। जो हम चुप छिपे सुनते हों व हमारी यही गति दूसरा करता हो तो हमपर कैसी बीते? इसी शिक्षाको हृदयमें रखना चाहिये, अपना सा मन दूसरेका भी जान कर कभी किसीकी ठठोली अवज्ञा न करनी चाहिये।

बहुधा लोग रहस्यमें, गुह्यताके परदेमें ऐसा करते हैं जिसमें इसका दोष घट जाय पर उनकी भूल है। सोचना यह है कि जो कर्तव्य हमारा ईश्वर और उसकी प्रजाके प्रति है क्या हमें बाध्य करता है कि हम दूसरेकी बातको जो उसे हानिकर हो प्रसिद्ध करें। जो कर्त्तव्य बाध्य करता है तो डर किसका छिपाव किसका डंकेकी चोट कहो अपने कर्त्तव्यका यथावत पालन करो नहीं तो तुम अपने कर्त्तव्यके न पालन करनेके

दोषी, ईश्वर और देशके सामने, होंगे। अगर कर्त्तव्य नहीं बाध्य करता तो किसीसे भी कहना झंखना है। जैसे एकसे कहना वैसे ही अनेकसे, पापतो पाप ही है। उक्त सिद्धान्तको हमने इस बातकी कसौटी ठहरा ली है कि कब किसीका भेद कहना व कब न कहना। बड़े बड़े अनर्थ जगतमें इसी वास्ते हो जाते हैं कि इस कसौटीपर रखे बिना ही लोग चाहे जो जिसकी बाबत कह डालते हैं। अच्छे अच्छे लोगोंकी उत्तम प्रतिष्ठित बातें भी बहुधा इस दोषसे रिक्त नहीं होतीं; मानो वे नैतिक अटल नियमको भूले बैठे हैं या जानते ही नहीं सिवा इसके कि न्यायाधीश और पञ्च जिस बातमें दण्ड दे सके वही अपराध है शेष नैतिक अपराध दाल भात है। बहुधा तो लोग दूसरोंके अकारण अपगुण दिखाने वा बखाननेमें अपनी चातुरीकी चरम सीमा दिखानेकी चेष्टा करते हैं।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयात एष धर्म्मः सनातनः॥-

का अनुकरण करनेसे ही इस दोषसे भी मनुष्य बच सकता है। इसके सिवा भी अनेक स्थलोंमें आता है 'सर्वे चाण्डाल निन्दकः' 'जो पर दोष लखैं सह साखी' 'पर अघ सुनैं सहस दश काना' इत्यादि।

अब हम दूसरे अङ्गपर कथन करते हैं जब कि हम दूसरेके बुरे कामोंको देखैं तो उक्त नैतिक नियमानुकूल चुप रहना हमारा धर्म्म नहीं है वरन तद्विरुद्ध हमें हमारा कर्त्तव्य बाध्य करता है कि हम उस दोषको प्रकाश करें। चुप रहनेकी जगह बोलना वैसा ही बुरा है जैसा बोलने की जगह चुप रहना। हमने दूसरोंके बुरे कामोंकी बाबत अपनी जिह्वाको बन्द रखना, जहां जहां कर्त्तव्य समझा, गिनाया। अब यह

बतलाना चाहते हैं कि यथेष्ट उचित कारणके उपस्थित होने पर हम उतने ही बोलनेके लिये बाध्य हैं जितने कारण विहीन दशामें चुप रहनेको। जब जब जहां यथेष्ट उचित कारण उपस्थित हो हमें अवश्य अपना मुख खोलना चाहिये। मनुष्योंमें एक सधारण दोष यही हुवा करता है कि जहां बोलना चाहिये चुप रहते हैं जहां न बोलना चाहिये बोलते हैं। स्पष्ट शब्दोंमें लीजिये—

मुख्य मुख्य तीन स्थल हैं (१) न्यायालयमें समाजके न्याय और धर्म स्थैर्य्यार्थ (२) निर्दोषीकी रक्षार्थ (३) स्वयं दोष करने वालेके लाभार्थ। इन्ही बातोंके साथ हम इस तृतीय पादको समाप्त करेंगे।

हम परहानिके निमित्त अकारण उद्यत होनेसे नीति सिद्धान्तानुकूल रोके गये हैं अतः चाहे किसीने कुछ बुरा ही क्यों न किया हो पर हम उसकी बुराईको मुंहसे न निकालें जबतक कि ऐसा करनेका यथेष्ट, प्रबल, उचित कारण बाध्य न करे।

पर जहां न्याय हो सकता हो, निर्दोषीकी रक्षा होती हो अथवा स्वयं बुराई-कर्त्ताका ही लाभ होता हो और हम देखें कि बिना इसे हानि पहुंचाने वाले मार्गका अनुकरण किये दूसरी तरह यह अभीष्ट पूरा नहीं होता तो उक्त नैतिक बाधाका हमें ख्याल न करना होगा। किसीको इस बातकी आशा करनेका कोई अधिकार या नैतिक कारण नहीं है कि वह बुरा काम करे और उसका बुरा फल न चखे और इसकी तो उसे कभी आशा ही नहीं हो सकती कि उसको बुरी कृत्य छिपाई जाकर उसे उचित परिणामके भोगनेसे बचाया जाय और दूसरेको हानि पहुंचाई जाय और अन्याय किया जाय

एवं दूसरे लोग चुप रहकर निर्दोष और अवगुण रहितको उसके पञ्जेमें सौंप दें।

जो बात परहानिकर हो उसकी बाबत मुंह खोलती समय जिस सिद्धान्तानुकूल हमें अपने अभिप्रायोंकी परताल करनी चाहिये वह यह हैं:—जो कुछ परहानिकर बात हम कहते हैं क्या अकारण, आनन्द मानकर या बेसोचे समझे कहते हैं? यदि ऐसा है तो हम निन्दक, और हम निन्दा (Calumny) के दोषी हैं। जो हम दोषीके लिये दुख और पीड़ा मान करते हुए विशुद्ध अन्तः करणसे निर्दोषीकी रक्षाके लिये या सामाजिक न्याय स्थैर्य्यार्थ अथच स्वयं दोषीके लाभार्थ कहते हैं और ऐसे व्यक्तियोंसे कहते हैं और इस रीतिसे कहते हैं जो इन परिणामोंके पूरा करने वाले हैं तो हम दूसरेके दोषोंको कहें कोई डर नहीं न यह कृत्य निन्दा (Calumny) है न दुर्वाद (Slander) न हम निन्दक हैं।

अब उक्त तीनों कारणोंको पृथक पृथक लीजिये :—

(१) सामाजिक न्यायाभीष्ट सिद्धिके लिये। जो किसीके दोषको समाजके लाभोंके विरुद्ध गोपन करता है वह पाप करने वालेकी गोष्ठिमेंका अपनेको भी एक व्यक्ति बनाता है। अतः ऐसे अवसर पर सभ्य नागरिक (Civil as distinguished from Military=सैनिक नहीं) न्याय विभागके उचित अधिकारी या न्यायाधीशके कानोंतक बातका पहुंचाना हमारा कर्त्तव्य है जिससे दोषी दण्डित हो और समाजमेंसे दुष्टताका शमन हो या उसकी कमी हो। यह कृत्य निन्दा नहीं है किन्तु वैसा ही प्रतिष्ठित है जैसा (Judge) न्यायाधीशका दण्ड देना या न्याय पञ्च और सरपञ्चका (Jury) दोषी निर्वाचित करना। यदि यह पञ्चों सरपञ्चोंका काम या informer सूचकका काम

स्वार्थयुक्त हो तो भी विषयकी स्थितिका Position of the fact परिवर्तन नहीं होता। जैसे पारितोषिकके निमित्त कोई डाकूको बंधवा दे, सरपञ्च या पञ्च समाजसे धन लेकर यह काम करते हों तो भी कुछ दोष नहीं बातके मूल मन्तव्यमें अन्तर नहीं होता। हां घूस, अकोड़ लेकर या पक्षपातादिसे दोषीको छोड़ना निर्दोषीकी ताड़ना पाप है और यथार्थ करते हुए भी अपने वेतनके अतिरिक्त छिपाकर किसी सूचक, पञ्च, सरपञ्च या अन्य समाजाधिकारीका धन लेना स्वयं अनीति और दण्डनीय दोष है।

(२) पुनः निर्दोषीका संरक्षण लीजिये। यदि किसी निर्दोषीको कोई दुष्ट मारना, सताना या लूटना आदि अनीतिसे दुख देना चाहता है और उसका हमको पता लग जाय तो उस निर्दोषीको सचेत करनेके निमित्त दुष्टके इरादेको कह देना या उसके स्वभावको बतला देना दोष नहीं है। किसीने किसीको नौकर रखा नौकर चोर है हम जानते हैं तो नये स्वामीको नौकरकी व्यवस्थासे सचेत कर देना पाप नहीं है पर शुद्ध बुद्धिसे सच्ची बात होनी चाहिये।

(३) स्वयं दोष कर्त्ताके लाभार्थ। जैसे कोई बालक जुआ खेलता है या और बुरे मार्गपर जाता है तो उसकी बात उसके गुरू, संरक्षक और उसके माता पितासे कहना दोष नहीं। जुआड़ खानेको समाजके पाशमें बंधवा देना व दण्ड दिलाना पाप नहीं है, स्वयं जुआड़ियों दुराचारियोंके सुधारका कारण है, जिसमें उन्हींका भला है न कि समाज, सूचक वा और किसीका।

दो एक साधारण बातें और भी हैं जैसे :—

(१) जो हम जानें कि कोई मद्यप है तो चाहे हमें उसके बदनाम करनेका नैतिक कारण न हो पर जो हम उसकी सङ्गत

छोड़ दें तो दोष नहीं चाहे हमारे सङ्ग छोड़नेको कोई कुछ भी क्यों न ख्याल करे, अनुमान करे वा जानले।

(२) जो हम किसीको अविश्वास पात्र समझें तो चाहे हम किसीसे यह न कहें कि यह अविश्वास पात्र है क्योंकि अकारण ऐसा करना अनीति है पर यह भी अनीति है कि हम व्यक्ति गत या समाज गत उसको विश्वासपात्र सूचित करें और उसके साथ रहकर सर्व साधारणको विश्वासपात्र अनुमान करनेका अवसर दें। यदि हम ऐसा करते हैं तो हम छल (दगा) करते हैं—दुष्टको लाभ पहुंचाते हैं और निर्दोषोको हानि।

(३) जो हम दुष्टों और कदाचारियोंकी मित्रता व गोष्ठिमें रहते हैं तो मानो हम अनुमान कराते हैं कि दुष्टोंका सङ्ग बुरा नहीं है अर्थात् दुष्ट व दुष्टता सज्जनोंके सङ्गके योग्य हैं और यह अनीति है। क्योंकि हम पापके सहायक होते हैं।

(४) जो बात किसी व्यक्ति विशेषके कारण या दैवी घटनासे प्रख्यात हो गई हो उस इतिवृत्तका लिखना प्रसार करना इतिहास लेखक व पत्र सम्पादकका कर्त्तव्य है। जो बात प्रकट हो गई उसका पुनर्प्रकाशन दोष नहीं पर जो बात प्रगट नहीं हुई वह उसके अधिकार सीमासे बाहर है और उसे इस मण्डलमें ऊपर कहे हुए सिद्धान्तोंके अधिगत होकर लिखना पड़ेगा।

पर जो पूर्व प्रकाशित बात इतिहास लेखकको मिले उसे जो वह निर्भय, निष्पक्ष या विशुद्ध भावसे काममें ला सकता है तो उसे यह अधिकार नहीं है कि उत्तेजना, वार्गिक पक्षपातसे या व्यक्तिक पक्षपातसे छिपा ले या उसमें अत्युक्तिसे काम ले या अयथार्थ रूप देकर प्रकाशित करे। यदि कुछ भी

तोड़ मरोड़ और बुरे भावसे काम लेता है तो निन्दाका दोषी है। जैसे मुसलमानी और आर्य्य समयके इतिहासोंको कतिपय अनेशियाई लेखकोंने अनुचित रङ्गसे उन्मीलित किया है तो यह पाप है :—

शिवाजीपर छलसे अफजलको मारनेका दोष प्रमाणित करनेके लिये मूल स्थितिका छिपानेवाला निन्दक और मलिन हृदय है। शिवाजीको छलसे वध करनेको बुलाया गया था। अफजल जब आया शिवाजी भी पहुंचे और मिलती समय उसने अपनी असिपर हाथ डाला और एक वार किया जो शिवाके कवचने निष्फल कर दिया तब शिवाजीने तुरन्त हरिपङ्कसे दया अपने प्राणघातक होनेवालेको प्राण दण्ड दिया। इस दशामें शिवाजीको अनीति कृत्यका दोषी कहना मिथ्यावाद है।

जो इतिहास लेखक इतिहासको अपने मनमाने रङ्ग देकर लिखता है वह सदा सर्वदाको जगतमें झूंठ फैलानेवाला होता है अतः दुष्ट, निन्दनीय, झूंठोंका राजा है। मुखसे निन्दा करना मुद्रणालय द्वारा निन्दा करनेसे कम दण्डनीय है वह एकसे एक समय कहता है यह संसारसे असीम काल पर्य्यन्त।

यदि किसी प्रतिद्वन्द्वी व्यक्तिके चलनको या बुद्धिको धब्बा लगाना या नीचा बतलाना, जिसे जगत एक कमीना पन स्वीकार करता है, बुरा है तो किसी राजनैतिक व्यक्तिको विरोधके कारण ऐसा करना कितना बड़ा कमीनापन नहीं है? जो काम मुझे स्वयं करना मेरी नीचताका कारण हो उसीको दूसरेके प्रति करना कितनी नीचताका कारण न होगा? और जो दुष्ट अहङ्कारी राजनीति धर्म बाधक हैं उनकी प्रतिष्ठा और प्रजा-भाल-तिलक सज्जनोंकी अप्रतिष्ठा क्या महान अनीति

व अधर्म नहीं है? क्या कोई अधिकारी बलवान होनेसे या राज नैतिक विरोधके कारण ईश्वरकी प्रजा नहीं है फिर क्या कोई कारण हो सकता है कि क्यों मनुष्य नैतिक मूल सिद्धान्तोंके विरुद्ध, किसीसे किसी दशामें, आचरण करे? क्या कोई ऐसी अवस्था है कि जब हम ईश्वरीय नियमोंकी अवज्ञा, अप्रतिष्ठा या उनका उल्लङ्घन कर सकते हैं? हम बलके साथ उच्च नादसे प्रश्न करते हैं कि क्या मनुष्य यह समझता है कि राजनैतिक भेदके कारण या नैतिक प्रतिद्वन्द्विताके हेतुसे परम पिता राजराजेश्वराधिप सर्व जातियों और देशोंका नहीं नहीं समस्त ब्रह्माण्डोंका अधिष्ठाता इस ब्रह्माण्डकी राज-गद्दीसे उतार कर हिन्दू कुश पहाड़पर निर्वासित करके बन्दी रखा जा सकता है? यह बात केवल राजनीति सम्बन्धमें ही न जानना, हमारा विषय सार्वभौमिक नीति है। हम एक छोटेसे पत्र संम्पादक और प्रेसके प्रबन्धकर्ता हैं अतः हम यह भी अवश्य ही कहेंगे कि क्या कोई दुष्ट सम्पादक, लेखक या यन्त्राधीश किसी मनुष्यसे अधिक अधिकार रखता है जो उसे औरोंसे अधिक स्वत्व देता हो जिससे वह अपने यन्त्र वा पत्रको स्वयं इस वास्ते काममें लाया जाने दे जो व्यक्तिक द्वेषकी परितुष्टिके वास्ते हो या व्यक्तिक द्वेषके बदलेका निमित्त हो या बिना छान बीन व्यक्तियोंको जगतके सम्मुख बदनाम करनेका हेतु हो? समाजके विरुद्ध पाप कृत्योंका दण्ड समाजसे ही होना चाहिये और मात्र समाजसे अतः लौकिक यन्त्र (Public press) का सञ्चालक हो वा राजपरिकर हो अपने भौतिक बलके कारण कोई अधिकार इस बातका नहीं रखता कि अन्य सहवर्ती प्राणियों (Fellowbeing) की अपेक्षा दूसरोंको अधिक पीड़ा पहुंचानेका कारण हो। जो

ऐसा करे तो क्या ठीक न होगा कि दूसरा यों कहे कि महाशय आपके पास यन्त्रालयका बल है तो मुझमें मुक्कोंका बल है लीजिये देखिये मजा; फिर तो सामाजिक शान्तिका अन्त ही हो जाय। अतः किसी पत्राधीश पत्र सम्पादकका अधिकार नहीं जो व्यक्तिक बुराइयोंको छापे जबतक स्वतः दैवात उनका भण्डा फोड़ न हो व जगद्विदित न हो लें। जबतक संचारकी दृष्टिसे अगोचर हैं यन्त्रकी दृष्टिसे भी अगोचर हैं जब तक कि वह सिद्ध न कर दे कि वह इसी कामके करनेके निमित्त समाजकी ही ओरसे नियत किया गया है।

इत्यलम्

इति तृतीय पाद सम्पूर्णम।

पाद चतुर्थ ।

मण्डल प्रथम ।

॥ अथ मङ्गलाचरण ॥

छप्पै ।

जग उपास्य जगदीश, विघन हरण अशरण शरण ।
ताहि नवाइय शीश, जो जातिय कारण करण ॥
जानि मातु सर्वस्व, माथे तिलक वर रज चरण ।
शोभित ज्यों अरविन्द, नित्य नये मङ्गल करण ॥
जो रक्षक पति लाजके, अरु देश प्रेम मकरन्द ।
सो भारत रस भोजिये, गोपालक आरज वृन्द ॥

---

* स्वपितृ भूमि देवालय खातिर । शत्रु भयानक सम्मुख लड़कर ॥
जो नहिं मरै स्वदेश निमित नर । है कौन मृत्यु जग सुन्दर तर ॥
जायं युगान्तरमें या आज । होगी अवश मृत्यु सिरताज ॥

भारतके नव युवाओ आओ सभा बनाएं ।
शुभ देश प्रेम दीपक हिल मिलके सब बलाएं ॥
सुर वाटिका विनिन्दक हो यह सभा हमारी ।
बुलबुलसे बढ़के चहकें हो पुष्प खिल खिलायें ॥

---

* लार्ड मैकालेके पद्यका पद्यानुवाद (यह पद्य किङ्गरीडरमें बच्चोंके पढ़नेको न्यायशीला सरकारने छपाया है उसीका अनुवाद ग्रन्थ कर्त्ताने किया)।

भारत अधोपतन है अति क्लीवताका द्योतक।
आओ कमरको कसकर हिलमिल इसे उठायें॥
जीवनका मूल मतलब पूरा हो आज अपना।
इस समयमें भी हम जो भारतके काम आयें॥
यह कौन जानता है के दिनकी जिन्दगी है।
कर्त्तव्य किस लिये हम बिन किये छोड़ जायें?॥

अनुवाक १

मनुष्योंके प्रति मनुष्य कर्त्तव्य।

भूत और वर्त्तमान सचाई।

आवश्यकतासे बाध्य प्रत्येक व्यक्ति भूत और वर्त्तमान दोनोंके साथ गाढ़ और लाभजनक सम्बन्धोंसे जकड़ा हुआ है। यहां तक कि मानवी अनुमान शक्ति उसे भविष्यके साथ भी बांधती है। बिना भूत कालिक इतिवृत्तके परिज्ञानके और जहां तक उसके सहवर्ती बन्धुओंका लगाव है बिना इस ज्ञानके कि आगे क्या होगा वह वर्त्तमानकी बातोंकी कोई ठीक व्यवस्था ही नहीं कर सकता। जो इसे न मालूम हो कि पहले आषाढ़में वर्षा आरम्भ हुआ करती है और पूर्वमें हुई है तथा आगे आनेवाली बरसातमें सम्भव है, नहीं नहीं प्रबल अनुमानका बल है, कि होगी तो वह कैसे वैशाख ज्येष्ठमें खेतोंको उपयोगी बनाकर ठीक करे। यह ज्ञान उसे न हो यदि उसका गठन दशाके समान सम्बन्धानुसार न बना हो इसीसे उसका गठन दशाओंके मुनासिब बनाया गया है। एक ओर मनुष्यमें सच बोलनेका स्वाभाविक दृढ़ मनोज्ञान है जो उसे उस समय तक अपने अधिगत रखता है जब तक अन्य कारण

बीचमें न आ-कूदें और मनकी कायरताको वृद्धि और अन्तरात्माको बलिष्ट न बना दें, दूसरी ओर उसका यह भी स्वभाव है कि यदि कोई विरोधी कारण प्रबल न हों तो वह उन बातोंको जो उससे कही जायँ विश्वास भी करलेता है। अब हमें यह देखना है कि सचाईका कालत्रयमेंसे भूत व वर्तमानसे या भविष्यत्‌से कुछ लगाव है? अलग अलग हम इस विषय पर विचार करेंगे।

भूत व वर्तमानसे संलगित सचाई।

उपस्थित प्रश्नान्तरगत सचाईका किसी इतिवृत्तसे लगाव होता है चाहे काम हो चुका हो वा किया जाता विश्वास किया गया हो।

नैतिक सत्य—हमारे उस अभिप्रायमें होता है जिससे हम अपनी पूर्ण योग्यता भर किसी इतिवृत्तका परिज्ञान दूसरेको ठीक उसी भांति कराना चाहते हैं जैसा हमारे मनोंको होता है।

भौतिक सत्य—किसी इतिवृत्तके परिज्ञानको दुसरेके प्रति इस तरह पहुंचान वा देना है जो ठीक जैसा है वा था।

विचार शील पाठक देखेंगे कि सर्वथा दोनों बातें एक नहीं होतीं, बहुधा सूक्ष्मअन्तर हुआ करता है। देखो, सम्भव है कि वक्ता स्वयं बे जाने असत्य परिज्ञानको मनमें सत्य समझ चुका हो तो वह वैसाही बतला सकता है व बतलावैगा जैसा विश्वास करता है। इस दशामें उसका कथन नैतिक सत्य और भौतिक असत्य होगा। इन्हें अभिप्राय सत्य और वृत्त सत्यके नामसे भी कहते हैं। उसका विलोम, जानकर झूठ बोलना और असत्यको सत्य जानकर झूठ कहना अर्थात वृत्त अशुद्ध कहना है। हम देखते हैं कि किसीको झूठा कहते हैं तो उसे अप्रसन्नता

होती है पर जब कहते हैं कि आप गलती पर हैं, कि आपका कथन ठीक नहीं है वा आप भूलते हैं या भूल कर रहे हैं तो वह कहता है कि आप ठीक बतला दीजिये ।

यदि अब भी पाठक न समझे हों तो इसे दूसरी तरह देखें। सम्भव है कि 'क' को किसी इतिवृत्तका ठीक परिज्ञान हो पर मनमें यह समझ कर कि यह झूठ है उसे दूसरेसे कहे और अभिप्राय यह होकि श्रोता 'ख' को धोखा हो तो क्या होगा? नैतिक झूठ और भौतिक सत्य । हम सत्य और विशुद्ध सत्य तबही बोलते हैं कि जब किसी बातको हम जानते भी ठीक हों और दूसरेसे कहनेमें हमारा अभिप्राय भी यही हो कि जो बात जैसी हमारे मनमें है ठीक वह बात वैसी ही श्रोताको भी हृदयङ्गम हो ।

इस विषयमें दो बातें प्रधान हुईं एक तो यह कि प्रथम तो जो बात हम दूसरेसे कहें वह ठीक वैसी ही हो जैसी हमारे चित्तपर अङ्कित है नकि कोई दूसरी । दूसरे उसमें न्यूनाधिक्य यत्किञ्चित भी न किया गया हो । हम सत्य बोलें ; सत्य अधूरा न हो पूरा हो और सत्यातिरिक्त और कुछ न हो। अतः ।

यह नियम हमें निषेध करता है :—

(१) जो बात हम झूठ जानते वा मानते हों सचकी भांति कहना ।

अतिरेचन (Exception) उदाहरणकी भांति कोई कथन, वार्ता, कहानी या अलंकार जिसे पहलेहीसे वक्ता झूठ जानता हो और चतुर श्रोता भी प्रत्यक्षमें धोखेमें न पड़ सकते हों न वक्ताका अभीष्ट ही धोखादेना हो, वरन शिक्षा या समझनेके लिये उदाहरणवत कहाजाय झूठ नहीं है । जैसे

पंचतन्त्रकी कहानियां, या वेदोंके अलंकारिक वाक्य 'ब्राह्मणों मुख मासीत्' इत्यादि। क्या कभी मुखसे भी प्राणी पैदा हुआ है, फिर पुरुषसे पुरुष कैसे पैदा हो सक्ता है। न यही भाव है कि ब्राह्मण मुखकी भांति गोल मोल होता है। मतलब यही है कि ब्राह्मण (विद्वान, सदाचारी, सद्गुण सम्पन्न) पुरुष समाज रूपी शरीरका मस्तक है।

(२) जिसका सच होना हमें न मालूम हो उसे सचकी तरह कहना।

बहुधा दूसरोंके अभीष्टकी बाबत हम मनघडन्त कल्पनाएं कर बैठते हैं। जो कोई बात सचकी भांति कहता है वह अपने ऊपर इस बातका दायित्व लेता है कि इसने निश्चय कर-लिया है कि यह बात सत्य है यदि ऐसा नहो तो जहानसे विश्वासपात्रता समूल उठ ख़ड़ीरहे। झूठ जानकर सत्यकी भांति कहना तो एक ओर सत्यको सत्य न जानकर उसी बातको सत्यकी भांति कहना भी बहुत अनुचित है।

(३) सत्य बातका इस तरह कहना कि श्रोता, के हृदयों पर मिथ्या अङ्कना हो—श्रोतागण इसे सत्य न जानें। यह कई तरह हो सकता है उदाहरण - १ इतनी अत्युक्तिसे काम लेना कि सत्य बातपर झूठका रङ्ग चढ़जाय। चाहे यह अत्युक्ति घटावकी ओर हो या बढ़ावकी ओर अथवा दोनों का समाहार। इन्हींको चाहें तो तीन भेद मानकर पृथक विचारें।

(४) सत्य विषय विना अत्युक्तिके कहना, पर इस तरह क्रम बद्ध करना कि श्रोताके मनमें मिथ्या ही अंकित हो। इस बातमें वकील व पक्षपाती लेखक सबसे बड़े पापी हुआ करते हैं।

नीति अभीष्टमें है न कि शब्दोंमें । जिस पाप पर यहां विचार हो रहा है वह किसी दूसरेके मन पर धोखा देनेके लिये झूठ बात अङ्कित करनेसे ही होता है। बोलीका ढंग, आंख व शिरकी जुंबिश या अन्य इशारों व ढंगोंसे भी दूसरेके मनपर ऐसाही मिथ्या प्रभाव पड़ सकता है यह पाप मिथ्या वादका ही पाप है।

गुरु चेला, पुत्र पितों, स्त्री पुरुष, वकील मुअकिल, क्रेता विक्रेता, न्यायपति (Judge) या (Jury) सरपञ्च पञ्च सबसे ही झूठ बोलना हर दशामें मना है। जो अति चतुर त्वरित ग्रहण शील हृदय वाले जीव हैं उनके भी मनों पर मिथ्याका संस्कार पड़कर धोका और अनर्थ हो जाता है। जो किसीको हमारी बात जाननेका अधिकार नहीं है तो हम न बतावें पर हमें इस कारण झूठ कह कर बहकाना उचित नहीं है, क्योंकि संसारमें चाहे किसी बातके न बतलानेका कारण हो पर झूठ बोलनेका कहीं कोई भी कारण नहीं हो सकता। झूठ बोलनेसे यही अच्छा होता है कि हम साफ कहदें कि यह बात आप पर प्रकाश करनेकी नहीं है। कारण इसका प्रत्यक्ष है। सच बोलनेका नैतिक दायित्व पृच्छकके उस बातके यथावत जानने न जाननेके अधिकारी या अनधिकारी होने पर अवलम्बित नहीं होता। यदि ऐसा हो तो दुनियामें परस्पर बात करनेका लाभही जाता रहे। जैसी झूठोंसे बात करनेसे मनुष्य घृणा करता है और न करे तो कुछ लाभ नहीं उठा सकता न उठानेकी उसे आशा होती है। ऐसी ही जो समाजकी सार्वभौमिक स्थिति हो जाय तो विश्वास एक स्वप्न सम्पत्ति हो जाय। पदे पदे सन्देह हों और झूठका ही राज होकर प्रजाका जीवन अतीव दुखित होजाय। हम

सोचते हैं तो प्रतीति होता है कि ईश्वरीय इच्छा व अनुज्ञा है कि हे मनुष्यो सच ही बोलो। हमें वेदोंमें सिखलाया गया है कि मनुष्यो तुम परमात्मासे प्रार्थना करते रहो कि हमें विशुद्ध सत्य और सत्य ही बोलनेकी शक्ति दो और सत्य ही बोलें—'ऋतं वदिष्यामि सत्यम् वदिष्यामि' 'सत्यम् जयतीति नान्ृतम्' इत्यादि। इस इच्छा व अनुज्ञाके प्रमाण हैं और हम युक्ति भी तदनुगत पाते हैं।

(१) हममें स्वभाव ही ऐसा है कि सत्य बोलें व जो सुने उसे विश्वास करें। बच्चा पहले कभी मिथ्या नहीं बोलता और जो सुनता है उसे विश्वास करलेता है। इससे जाना जाता है कि जगत प्रपञ्चजन्य मिथ्यावादका पाप स्वाभाविक नहीं है। पुनः उसकी इच्छा जगत् व्यवहारके देखनेसे ऐसीही प्रत्यक्ष होती है व सन्देह नहीं रहता। ईश्वरने आंखें प्रकाश और प्रकाश आंखोंके लिये बनाया और उसका कोई नियम ऐसा नहीं मिलता जो एक स्थलपर एक तरह दूसरे स्थलपर दूसरी तरह मिलता हो यह भी प्रमाण है कि उसने मिथ्याकी कल्पना की ही नहीं।

(२) हम नैतिक जीव हैं, हमारा गठन नैतिक है—हम उसके नैतिक नियमोंके तोड़नेसे दुख व पालन करनेसे सुख पाते हैं। सत्य कृत्यसे जो स्वाभाविक आनन्द होता है वह झूठसे नहीं, जो निर्भयता दृढता सत्यमें है वह झूठमें नहीं, क्योंकि निस्सन्देह झूठसे दुख होता है अतः नीति विरुद्ध है और नीतिको ईश्वरीय नियमानुकूल सिद्ध किया जा चुका है।

(३) हमारा गठन हमारे सुखके वास्ते सचाईके नियमके आधिपत्यकी अवश्यकता प्रगटकर रहा है। यदि सच बोलनेका दायित्व हमपरसे उठजाय और जो कुछ हमसे कहा जाय

उसके सच्च मनानेका स्वभाव हममेंसे जातारहे तो सारी विद्याओं व विज्ञानोंका सिवा इसके कि जो एक व्यक्ति अपने एक जीवनमें स्वयं अनुभाव करे, अन्त हो जाय। एक को दूसरेकी खोज, जांच, पहिचान, आविष्कार, विद्या और बुद्धिसे कुछ भी लाभ नहो, भाषाका अस्तित्व व्यर्थ हो जाय और परिणाम यह हो कि हम एक प्रकार पाशविक स्थितिको पहुंच लें।

(४) शाब्द प्रमाण वेदों और अन्य सच्छास्त्रोंका इतना दिया जा सकता है कि एक ग्रन्थ और तय्यार हो जाय—

"सत्यं सत्सु सदाधर्मः सत्यमृधर्म सनातनः
सत्य मेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः" ॥ १ ॥ महाभारत ॥

याद रहे झूठ झूठही है। श्वेत पीत श्याम कैसाहीं रङ्ग झूठको क्यों न दिया जाय झूठ झूठ है और उसका उत्तर सर्व शासकोंके परम न्याकारी शासकके सामने देना होगा। झूठका सबसे बड़ा दण्ड अन्तरात्मामें जड़त्वका आजाना है।

हमारे घरोंमें—हव्वा बुलाना, बच्चों व स्त्रियोंसे झूठे वादे करना, झूठको हंसीके काममें लाना इत्यादि इत्यादि बातें एसी हैं कि जिनके कारण हमलोगोंके बच्चोंकी नैतिक स्थिति उसी समयमें बिगड़ जाती है वे उसी समयसे कायर भयभीत हो जाते हैं जबकि उनका वीर निर्भय और सत्यवादी होना स्वभाव सिद्ध होता है, उचित है कि वे डर और असत्य व कायरताके नाम व रूप तकसे भी परिचित न होने पावें।

अनुवाक २

भविष्यतकी सचाई।

भविष्यत कई दशाओंमें हमारे वशमें होता है। अतः हम उन दशाओंमें रीति विशेषानुसार अपनेको नैतिक कर्तव्यान्तर-

गत प्रतिबंधितकर सकते हैं। जब हम किसी कामके करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं हम स्वेच्छासे उस कामके करनेका नैतिक भार अपने ऊपर लेते हैं। सचाईका नियम हमें उस प्रतिज्ञाकी पूर्त्तिके लिये बाध्य करता है। इस विषयका यह अंश दो अवयवोंसे युक्त है एक सरल मौखिक प्रतिज्ञाएं दूसरे लेखवद्ध ठीके (Contracts)

(१) प्रतिज्ञाओंको लेते हैं, तो प्रत्येक प्रतिज्ञामें दो बातें ध्यान देनेकी होती हैं:—

(क) अभिप्राय (इरादा या Intention)

(ख) करणीय—(Obligation)

(क) सचाईकी नय धारा चाहती है कि सप्रतिज्ञ तत्प्रतिज्ञसे वही अभिप्राय या इरादा-प्रकाशित करे जैसा ठीक उसके मनमें हो। जब हम किसीसे कह दें या किसीको प्रकाश कर दें कि हम कल उसकी अमुक सेवा करेंगे तो हमारा कोई अधिकार नहीं कि उससे हट जायं और झूठे हों। जैसे यह झूठ वैसे ही अन्य बातोंकी झूठ। झूठ सर्वत्र सब काममें झूठ ही है।

(ख) सचाईकी नय धारा हमें वाध्य करती है कि हमने अपने जिस इरादेको जैसा जाहिर किया है उसे हम वैसा ही पूरा करें। दूसरे शब्दोंमें हमारा धर्म है, हम सत्य धर्मसे वाध्य हैं कि हमने जो आशा अपनी निज इच्छासे दूसरेमें पेदा कर दी है उसे पूरी करें न कि इसके प्रतिकूल। जिस भावसे तुमने चाहा था कि तत्प्रतिज्ञ तुम्हारी प्रतिज्ञा ग्रहण करे उसीके अनुसार ठीक ठीक तुम (प्रतिज्ञाकारी)-वाध्य हो। हमको कोई अधिकार नहीं है कि हम झूठी प्रतिज्ञा करके दूसरेको धोका देदें और उसे किसी तरहकी

हानि, मानसिक, शारीरिक हो वा साम्पत्तिक—पहुंचावें। जो कुछ हमने ऊपरके अनुवाकमें कहा है उसके देखते हमें व्यर्थ जान पड़ता है कि हम यहां इस बातका पिष्टपेषण करें कि प्रतिज्ञाएं कैसे भङ्ग हो जाती हैं व प्रतिज्ञाओंका यथावत पालन न करना ईश्वरीय नियमोंका तोड़ना है। हम अपने विचारशील पाठकोंसे आशा करते हैं कि वे इसी मण्डलके पूर्वके अनुवाकको पढ़कर इस साधारण बातको भली भांति जान लेंगे।

अतः अब हम इस बातका विचार करते हैं कि किन दशाओंमें प्रतिज्ञाओंका पालन हमपर बन्धन नहीं होता इससे भी विलोभावस्थाका बहुत कुछ अनुमान होगा—निम्न स्थितियोंमें प्रतिज्ञाका बन्धन नहीं हो सकताः—

Promise, Promisee & Promiser = प्रतिज्ञा, तत्प्रतिज्ञ, सप्रतिज्ञ।

जब प्रतिज्ञा पालन असम्भव हो। जो बात प्रत्यक्ष हमारे वशके बाहर है उसका हम कैसे पालन कर सकते हैं अतः प्रतिज्ञाका करना और तत्प्रतिज्ञको उसके पूर्त्तिकी आशा करना सर्वथा अन्धतम कृतियां हैं। ऐसी प्रतिज्ञा-ओंके नैतिक लक्षण उन दशाओंसे जिनमें प्रतिज्ञा हुई थी विभिन्न होती हैं। यदि हमने कामकी असम्भवताको न जानकर धर्मानुकूल प्रतिज्ञा की और हम उसे पूरी करनेकी चेष्टा भी ठीक रखते थे तो हम परमात्माके दरबारसे निर्दोषी प्रमाणित होकर छूट जायंगे। जो दैवी कारणोंने हमारे अभिप्राय पूर्त्तिमें बाधक हो हमें रोक लिया तो हम निर्दोष हैं। जैसे हम नहीं जानते कि गूलरका फूल नहीं होता हमने कह दिया कि हम ला देंगे, पीछे ठीक बात मालूम हुई तो

हमारा क्या दोष? अथवा हमने कहा कि हम कल तुम्हारा छप्पर उठवा देंगे और हमें ऐसा ज्वर हो गया कि हम अयोग्य हो पड़े रह गये तो हमारा क्या दोष? हां, जो हम जानते हों कि गूलरका फूल नहीं होता फिर वादा कर लें कि ला देंगे तो अलबत्त हम झूठ बोले। क्योंकि हमने वह अभिप्राय प्रकाश किया कि जो हम पूरा नहीं करने वाले, हमारे मिथ्या प्रतिज्ञाके पापसे जो क्षति तत्प्रतिज्ञको हो उसका पूरा करना सप्रतिज्ञपर धार्मिक बन्धन है।

(२) जब वादा (प्रतिज्ञा) धर्मशास्त्र, वेद और शान्तिरक्षार्थ राजकीय प्रचलित न्याय धारा विरुद्ध हो तो न सप्रतिज्ञ (प्रत्यज्ञा करनेवाला) ऐसी प्रतिज्ञा करनेका अधिकारी है न तत्प्रतिज्ञ उसके पूर्त्तिकी आशा करनेका अधिकार रखता है। निर्दोषीसे दोष करानेकी आशा कभी धर्मानुकूल नहीं हो सकती। सप्रतिज्ञको तुरन्त अपनी भूल मानकर प्रतिज्ञाकी अपूर्त्तिका समाचार तत्प्रतिज्ञको कर देनी बस है नहीं तो थोड़ासा नैतिक कलुष अवश्य वादा करने वालेकी अन्तरात्मापर लगेगा क्योंकि जानकर मिथ्या बात कही गई।

(३) जब तक सप्रतिज्ञ स्वेच्छासे कोई आशा अपने प्रतिज्ञा द्वारा दूसरेमें उत्पादन न करे वह उस वादेको पूर्त्तिके बन्धनसे अलग है। आज कलके गौराङ्ग शासन चौकीके कुत्ते धमकाकर, मारकर और बड़ी बड़ी अनीतियोंसे प्रतिज्ञाएँ एँठते हैं तो ऐसी प्रतिज्ञाओंका पालन बन्धन नहीं होसकता तभी तो गोरी राजनीतिमें भी पुलिसके सामनेके बयान व कार्यवाहियां न्यायालयोंमें थोड़ी भी विश्वासपात्र नहीं मानी जातीं। जो 'क' ने 'ख' से कहा कि वह 'ग' को एक हाथी देगा और 'ख' ने 'क' की बिना मर्जी ही 'ग' से कह

दिया कि 'क' तुम्हें एक हाथी देगा तो कोई वादा न हुआ हां यदि 'क' ने 'ख' से कहा कि 'ग' से कह देना कि मैं उसे एक हाथी दूंगा तब तो ठीक ही है अवश्य वादा हुआ—

(४) यदि दोनों पक्षोंके ज्ञानमें कोई प्रतिज्ञा सप्रतिबन्ध हुई हो और वह प्रतिबन्ध यथावत सही न हुआ हो तो प्रतिज्ञा भङ्गका दोष नहीं लग सकता। राधामोहनने वादा किया कि जब तक धर्मदेवका अभियोग चलेगा मैं प्रतिमास १०) खर्चको दूंगा वह अभियोग दूसरे ही दिन न्यायालयसे उठा लिया गया तो राधामोहनपर प्रतिज्ञा पूर्त्तिका कोई भार शेष नहीं रहा। इसी तरह और अनेक बातोंमें हम देख सकते हैं—जो पानी न बरसा तो मैं आपसे मिलूंगा पानी बरसा तो प्रतिज्ञा पूर्त्तिका भार शेष नहीं रहा।

(५) जबकी प्रतिज्ञाका भावार्थ ही स्पष्टतया बतलाता है कि प्रतिज्ञा वह करणीय है कि जिसमें दो चतुर नैतिक कर्त्ता पड़ते हैं तो जहां दोमेंसे एक भी नैतिक अचातुर्य्य युक्त पक्ष होगा कोई करणीय (Obligation) नहीं हो सकता। बालक, विक्षिप्त, बुद्धि भ्रष्ट रोगी व वृद्धके साथ किसी प्रकार यथावत प्रतिज्ञाकी आशा हम उसी तरह पर नहीं रख सकते जैसे कुत्ता, बिल्ली, वन्दर, आदि पशुओंके साथ। किसी पागल या बालकको बहकाकर उसे घर या विक्षिप्तालयमें पहुंचाना और उसके शिक्षक या रक्षकको सौंपनेको लेजाना धोका नहीं है न बहकानेमें जैसा कहा गया है झूठ है क्योंकि वे कुछ समझ ही नहीं सकते कि नीति क्या है और सत्यासत्यमें क्या अन्तर है और जो किया जाता है वह शुद्ध बुद्धि उनकी ही भलाईके लिये किया जाता है जिससे परमात्माकी आज्ञाका पालन होता है अतः वह पाप नहीं पर ऐसा करने वालेको चाहिये कि अपने

स्वभावको विगड़नेसे बचानेके लिये जहांतक बने इनसे क्या पशुओंसे भी झूठ न बोले। पशुओंको गाली देना उससे वादा करना जैसा ग्रामीन गाड़ीवानों व दूसरोंमें देखा जाता है यद्यपि कोई नैतिक बन्धन मनुष्य जातिमें हानिकर होने वाला नहीं हो सकता पर निज स्वभावको हानिकर होनेसे एक प्रकारकी अनीति है वैसा ही यहां भी जानना। पर यहां इतना इस बातसे विचारना है कि जितनी थोड़ी हानि उससे निज स्वभावको होती है उससे कहीं बढकर परोपकार बालक व पागलके साथ किया जाता है अतः अनीति न जाननी चाहिये वर्तमान न्यायतक भी इस बातको मानता है धर्म्म परायण आर्य्य जातिका तो यह मत है ही।

अन्तमें यह बात परमावश्यकीय है कि जो वादा किया जाय बहुत सोच समझकर हरएक पार्श्वकी यथावत परीक्षा निरीक्षा करके किया जाय। जो लोग विना विचारे वादे करलेते हैं वे प्रायः भ्रष्ट प्रतिज्ञा, असत्य वादी, अधर्म्मी और कमीने स्वभावके लोग होते हैं या धीरे धीरे हो जाते हैं। ऐसे लोगोंमें कहकर बदल जाना, वादा पूरा न करना, जो दोष ईश्वरके सामने व जगतके सामने महान दोष गिने जाते हैं एक साधारण बात होती है पर इसका परिणाम इसलोक व परलोक दोनोंमें बड़ाही भयानक होता है। कमीनी जातियोंमें ही ऐसा अधिक होता है कि प्रतिज्ञा भङ्ग करदें लिखकर देदें छपवादें 'हम यों वादा करते हैं हम ऐसा करने-की सपथ ईश्वर नाम पर करते हैं' और कुछ नहीं करते ऐसी कमीनी जातियों और व्यक्तियोंका विश्वास लोग न करें।

टीप (मुआहदः)। प्रतिज्ञा और टीप अर्थात मुआहदः में यही भेद है कि प्रतिज्ञा एक पक्षसे होती है चाहे सप्रतिबन्ध

हो या अप्रतिबन्ध वरन मुआहदोंमें उभय पक्षोंकी प्रतिज्ञाएं होती हैं वह भी वास्तवमें प्रतिज्ञाएं ही हैं।

प्राचीनकालके अनेक लोगोंकी बातोंसे तो यही प्रतीत होता है कि दोनो एक ही हैं। कोई मौखिक व लैखिक भेद ही बताते हैं। पर वर्तमानमें जबकि झूठ बेइमानी देशमें अधिक लादकर लाई गई है, अर्य्यावर्तमें उस प्राचीन धर्मका लोप सा हो गया है, जिसके बलसे भारत निवासी अपने घरोंमें कभी ताला नहीं लगाते थे (देखे हा० शा० चीनीका कथन प्राचीन भारतकी बाबत मूल, ग्रन्थमें वा श्रीयुत सर रमेशचन्द्र जीका लिखा भारत इतिहास), तो हमें इसके भेद फिरङ्गियोंकी ही भांति करने पड़ेंगे। कि

टीपकी विशेषता यह है कि यह दुतरफा प्रतिज्ञा होती है एक एक बातके करनेकी प्रतिज्ञा दूसरेसे करता है, प्रतिबन्ध यह होता है कि दूसरा भी उसके साथ एक प्रतिज्ञा करता है। मैं अपना घोड़ा कल आपको स्टेशन तक चढ़कर आने जानेके लिये ८ बजे भेज दूंगा।' प्रतिज्ञा है।

(ख) मैं अपना घोड़ा आपके वास्ते कल खड़ा रखूंगा आप चाहें जब सवारी लें, मान लें कि मेरा घोड़ा कलके वास्ते आपको इतनेमें भाड़े हो चुका। दूसरा कहता है कि कल मैं घोड़ेका इतना भाड़ा तुम्हें, घोड़ा लूंगा, तो दूंगा न लूंगा तो उसका आधा हरजानेकी भांति दूंगा पर जो तुम घोड़ा दूसरेको भाड़े दे दोगे तो मैं तुमसे इतना हरजाना लूंगा। इस तरहपर परस्पर उभय पक्षमें जो प्रतिज्ञा बन्धन होते हैं उसे टीप वा मुआहिदा कहते हैं।

हम आगे चलकर मुआहिदाके अङ्गोंका विच्छेद करके खूब स्पष्ट कर देंगे। अब तक प्रस्ताव, स्वीकृति व अनुमोदन ठीक

ठीक समझमें न आ जाय, टीप शब्दका समझमें आना कठिन है।

इसमें अर्थद्योतक नियम, करणीय बन्धन होनेके कारण, और कर्तव्य अतिरेचन (Exception) तीनों ठीक प्रतिज्ञाके ही समान होते हैं विशेषता इतनी जाननी चाहिये कि इसमें एक प्रतिबन्ध विशेष लगा होता है जिससे कर्त्तव्य (करणीय) परमित होता है। सुतराम् टीप हो जानेके पीछे जब एक पक्ष अपने भागका पालन करता है दूसरेको भी अपने भागका पालन करना पड़ता है नहीं तो किसी पक्षके शिथिलतासे अर्थात् स्वीकृत प्रतिज्ञानुकूल नकरनेसे दूसरा पक्ष भी अपने प्रतिबन्धनसे मुक्त हो जाता है, न केवल मुक्त ही हो जाता है वरन अपने हरजानेके पानेका अधिकारी बन जाता है—इस टीप भङ्ग करनेके कारण जो कुछ भी हरजाना निर्णीत हो। नीतिमें एक पक्षीय प्रतिज्ञासे पारस्परिक प्रतिज्ञाको पहिचानके लिये इसे टीप कहते हैं।

सू० प्रतिज्ञा या वादाको छोड़कर पारस्परिक प्रतिज्ञा वा मुआहिदा एक वह, दो या अधिक पक्षान्तरगत, पारस्परिक प्रतिज्ञा स्वीकृति है जो किसी यथेष्ट प्रतिफलके निमित्त हुई हो कि कोई काम किया जाय या न किया जाय। किसी टीपका विचार जो एक पक्षकी ओरसे पहिले किया जाता है उसे प्रस्तावना=तजवीज कहते हैं, जब प्रतिपक्ष उसे स्वीकार कर लेता है तो वह स्वीकृति होती और उसे टीप प्रतिबन्धनमें जानना चाहिये पर प्रस्तावक जब प्रत्युत्तरमें अपना अनुमोदन देता है तब प्रतिबन्धित होता है। जो एक प्रस्तावके प्रत्युत्तरमें स्वीकृतिके साथ दूसरे पक्षने कुछ बात घटाई बढ़ाई

अब हमें यहां यह देखना है कि सादी टीप क्या है अर्थात् किसी कार्य्यके करनेकी टीप और वह टीप जिससे हम उस सम्बन्धमें प्रविष्ट होते हैं जो हमारे सूत्रमें स्थिर किया है। जैसेः—

(१) साधारण क्रय विक्रय—य ने व से १० मन गेहूं लेकर कहा हमारे घर पहुंचा दो दाम ले लो, जो दाम य–ने नहीं दिया तो व गेहूं देनेको वाध्य नहीं हो सकता। न बिन य के गेहूं देनेके 'व' धन देनेको वाध्य हो सकता है।

(२) धरती आदि अनेक क्रय विक्रय, लेन देन, स्थाई हों वा परमित समयकेलिये, जहां टीप पक्की हुई हो टीप तोड़ने

हो तो वह नया प्रस्ताव दूसरे पक्षका माना जाता है। हमने क से कहा कि क्या आप हमारा घोड़ा १००) में ले सकते हैं—वह उत्तर देता है–हां, तो वह बंध गया पर हम, जब तक यह न कह दें कि अच्छा हमने दिया, नहीं बंधे। पर यदि मैं कहूं कि मैं अपना घोड़ा १००) में बेचता हूं तुम लो तो ले लो और दूसरा कहे लेता हूं तो टीप पूरी हो गई। (कभी कभी बयाना या लिखतकी आवश्यकता होती है क्योंकि आजकल बेईमानी कङ्गाली बढ़ गई है लिखा पढ़ी व स्टाम रजिस्टरी बहुत चल पड़ी हैं।) जो दूसरा कहे नहीं मैं १००) रु० को तो नहीं ९५) रु० को लूंगा तो यह उसका प्रस्ताव हुआ पहला प्रस्ताव जाता रहा। बदला प्रति दान चाहे धन हो या प्राकृतिक सम्बन्ध या प्रेम पर जो कुछ भी हो न्यायधारा-नुकूल हो प्रतिकूल नहीं। अनैतिक बदला नहीं हो सकता, जैसे; कोई किसी अन्यकी स्त्रीसे रुपयेके बदले या और तरहके प्रतिदान पर कभी सहवासकी टीप नहीं लिखा सकता

वालेको समाज उसके पूरा करनेको वाध्य कर सकता है या हरजाना दिला सकता है।

(३) लड़का गोद देना, धर्म भाण्डार या सम्पत्ति आदिकी सौंपकी टीपें भी होती हैं।

(४) पति पत्नीकी, पञ्चायत और परमात्माके सामने, यावज्जीवनके लिये धर्मबन्धन भी टीप होती है। यह टीप नीच जातियोंमें दूसरी दृष्टिसे देखी जाती है। जब चाहा पतिने अथवा पत्नीने अपने सङ्गीको छोड़ दिया दूसरा कर लिया; थोड़े धनमें ही विवाद मिट जाता है। किसी किसी जातिमें स्त्री रूपी सम्पत्ति परिवर्त्तनके लिये नियम व न्याया-लय भी पृथक् बने होते हैं।

इत्यादि—जहां टीपमें कुछ लिखा नहीं होता मान लिया जायगा कि भीतरी भीतर कुछ प्रतिदान है। टीप कई भांतिकी हो सकती हैं जैसे बिक्री, किराया, ऋण टीप आदि मौखिक व लैखिक दो भेद प्रत्येकके हो सकते हैं। स्थावर जङ्गम सम्पत्तिके भेदसे भी किसी देशमें किसी किसी समय टीपोंमें भेद होते रहे हैं क्योंकि स्थावर सम्पत्तिका अधिकार जितना सविवाद होता है उतना ही जङ्गमका निर्विवाद होता है। चार तोला सोना चाहे जहां बेच लें झगड़ा नहीं है पर चार बीघा धरती बेंचे तो हमारा दूसरा भाई जिसका आधा स्वत्व है प्रतासे छीन सकता है। हमारा काम यहां टीपको नैतिक दृष्टिसे मोटा मोटी देखनेका है शेष बातें धर्मशास्त्रोंमें हैं देख सकते हैं, साथ ही यवन शासन न्याय धारा और फिरङ्गी न्याय धाराओंमें उनके मत देख सकते हैं। रूमियोंने जैसा लिखा है प्रायः वैसा ही फिरङ्गियोंने ग्रहण किया व लिखा है।

हम इस नीच प्रथापर अधिक न कहेंगे स्यात अन्य देशी बुरा मानें पर इतना कहना धर्म्म समझते हैं कि विवाह-टीप विशेष धर्म्म-टीप है साधारण सम्पत्ति टीप नहीं। सभ्य समाजके सामनेही यह टीप पक्की नहीं होती वरन परमात्माके सामने अतः आर्य्य सन्तति इसे अन्योंकी भांति 'सिविल सोसाइटीका एक सिविल एफेअर' (Civil affair of Civil society) जड़ साम्पत्तिक विषय नहीं मान सकती। ईसाई धर्म चाहे मकानोंकी तरह स्त्रियोंके भाड़ेकी भी रजिष्ट्री कचहरीमें कर दे और टीप तोड़ सकनेके मार्ग भी खोल दे, भारतको इससे प्रयोजन नहीं रखना चाहिये (म० मसीहने तो व्यभिचारके कारण विवाह सम्बन्ध तोड़ना उचित लिखा है पर हमें इन महात्माका इस विषयमें कोई बुद्धि गाम्भीर्य्य नहीं दीखता पर उन्होंने अपने देशका मकूल समझ कर ही कहा होगा)।

पुरुषके मर जाने पर या स्त्रीके मर जानेपर ही यह टीप टूटती है पर पूर्ण धार्म्मिक लोग (स्त्री हों या पुरुष) शेष जीवन भर ब्रह्मचर्य्य पूर्वक निर्वाह करते हैं नहीं तो अन्य एक स्त्री या पुरुषसे नया संयोग करलें। हमारे रजवाड़ोंमें कुछ पहले तक सौभाग्यवती युवतियोंके साथ व्यभिचार देखे जाने पर दोनोंको अर्थात् परकीया व उपपतिको ऐसा कठोर दण्ड मिलता था कि जिससे फरंगियोंके चरण आनेके पहले व्यभिचार झूठकी ही तरह यदा कदा ही कभी देखनेमें आता था। सं० १९१४ से पहलेके प्रत्यक्ष प्रमाण बहुत मिलते हैं।

पतिके मरनेपर स्त्रियोंको यावज्जीवनके लिये टूटी टीपके अधिगत करना और पुरुषोंको मरनेके दिनतक स्त्रीके होते व न होते हर तरह इस धार्म्मिक टीपके तोड़नेका अधिकार

दे देना, पुरुषोंकी बेईमानी, दगाबाजी और पक्षपात परायणताके सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। स्त्रियोंके व्यभिचार और पुरुषोंके व्यभिचारमें दीप भङ्ग करनेका अपराध एक समान दण्डनीय है पर बेईमान लोग अपने वास्ते दूसरा न्याय बनाते हैं दूसरे जातिके वास्ते दूसरा न्याय। एक स्त्री व्यभिचारमें पड़ी देखी जाय तो धरती और आकाश एक कर दिये जावें पुरुष रात दिन विष्ठा खाते फिरें पर फिर भी समाज उन्हें अपने साथ रहने बैठने खाने पीने देता है और तिरस्कार बहिष्कार नहीं करता यह बेइमानी नहीं तो क्या है? इस दशामें हम किस मुंहसे फिरङ्गियोंको दोष दे सकते हैं कि वे पक्षपात करते हैं और दण्ड संग्रह और दोषियोंकी पड़ताल प्रक्रियामें स्वदेशियोंको एक नियमसे वर्तते हैं और हमें दूसरे नियमसे। हमारे अन्तःकरणमें स्वयं न्याय नहीं तो दूसरे हमपर जो अन्याय करें उसे ईश्वरका भेजा हुआ हमें उचित दण्ड मान कर शिरोधार्य्य करना चाहिये।

यह कहना अनुचित न होगा कि जिसतरह स्त्री पुरुष दोनोंको धार्म्मिक होना चाहिये, जोड़के मिलने पहले व बिछड़नेके पीछे ब्रह्मचर्य्य ही सार जानना चाहिये, विवाह ईश्वरीय आज्ञाके पालन करनेको धार्म्मिक उद्देशसे मनुष्यको करना चाहिये वैसे ही सचाईका सिद्धान्त सर्वत्र एक रस निष्पक्ष सार्वभौमिक होना उचित है। व्यक्तियों और समाजोंमें जितना यह प्रतिबन्ध निष्पक्ष सत्यका होना उचित है उतना ही व्यक्तियोंमें परस्पर और समाजोंमें भी परस्पर होना उचित है। समाजका व्यक्तिके साथ असद् वर्ताव वैसा ही बुरा है जैसा व्यक्तिका समाजके साथ। इस दशामें वर्गों, जातियों, समाजों पर कितना बड़ा बोझ उद्धारका

न होना चाहिये? इन्हें तो अधिक धर्म, सचाई और पात्रताकी जरूरत है। पारस्परिक सन्धि पत्रोंका तोड़ना यदि न हो, सचाई ठीक ठीक हो, तो बहुधा मानवीरक्त पात न हुआ करे, किसी जातिको दूसरे जातिके स्वत्व तोड़ने छीननेका अधिकार नहीं है। प्रबलका निर्बल पर, सभ्यका असभ्य पर अथवा मूर्ख पर पण्डितको जिसतरह समाजमें व्यक्तियोंमें किसी अत्याचारका अधिकार नहीं है (क्योंकि यही ईश्वरी इच्छा है) उसी तरह जातियोंका जातियों पर किसी कारणसे धींगा-मुस्तीका अधिकार नहीं है, जो जाति ऐसा करती है जल्दी ईश्वरके प्रकोपसे नष्ट हो जाती है, सभी इतिहास व धर्म ग्रन्थ इस बातकी साक्षी दे रहे हैं।

उस न्यायकारी परमात्माने जन्म, मृत्यु, खानपान, हाथ, पैर आदि सब समान बनाकर कभी यह नहीं चाहा कि सिवा अपनी भूलके कभी कोई प्राणी दूसरेके अत्याचारोंसे दलित हो। जो दलित होता है उसकी भूल कायरता और क्लीवता है, जो दलता है उसकी भी भूल कायरता और निर्दयता व दुष्टता है।

इस सत्यको दृढ़ होकर ग्रहण करें जिससे हमारा ईश्वर-मात्र राजा हो और सत्यमन्त्री हो धरामण्डल हमारा शान्ति-मय घर और सजाति (मनुष्य) मात्र हमारे सहोदर और प्राणी मात्र हमारे दयाके पात्र हों।

उसने खानेको उद्भिज पदार्थ पीनेको पानी और सारे सुखके सामान जड़ पदार्थों द्वारा देकर हमें स्वतन्त्र सिरजा है केवल एक नीतिका कड़ा हमारे हाथोंमें डाल दिया है जो इस बन्धनसे मुक्त होकर आचरता है उसके पैरोंमें लोहेकी बेड़ियां पड़ेंगी, जो इस बन्धनसे प्रसन्न हैं वही परमात्माका लाड़ला माताका सुपात्र पुत्र है।

अनुवाक ३

शपथ-सौगन्द।

समाजको प्रायः कृत्य विशेषकी बातोंको यथावत जाननेकी आवश्यकता होती है, यदि किसी विवाद ग्रस्त बातकी सचाई समाज न जान सके तो वह कोई व्यवस्था न दे सके, जिससे दोषोको दण्ड व निर्दोषोका संरक्षण हो, और न्याय करना दुस्साध्य हो जाय। हर वृत्तके या तत्सम्बन्धिनी घटनाओं और दशाओंके जाननेको कार्य्य कारण न्यायानुसार और मानवी समाजको स्वाभाविक स्थितिको देखते हमें साक्षियोंकी आवश्यकता होती है। अतः इतिवृत्त ज्ञानाधार प्रायः साक्षि ही हो सकते हैं यदि साक्षी हों और वास्तविक सच्ची साखी दें।

इसी सत्य बोलनेके दायित्वको गुरुतर करने व नैतिक रूपसे साक्षीको सत्य बोलनेको बाध्य करनेके निमित्त, साक्षीके साधारण मानसिक सिद्धान्तोंपर उससे सौगन्द इस बातकी ली जाती है कि वह सत्य बात जो जानता हो कहे तो समाज यथावत व्यवस्था देनेको समर्थ हो और ऐसा न हो कि मानवी अल्पज्ञताके कारण ईश्वरकी प्रजापर कोई अन्याय न्याय समझकर समाजके हाथोंसे हो पड़े।

शपथ करनेवाला शपथ लेकर झूठ बोलनेकी अवस्थामें न केवल अपनेको प्रकट होनेपर सामाजिक दण्डका पात्र बनाता है किन्तु मिथ्या शपथ करनेके पापमें वह ईश्वरीय दण्डको भी आह्वान करता है, यह मानी हुई बात है।

नाना देशोंमें नाना प्रकारकी प्रथायें शपथ लेनेकी प्रचलित हैं। वेदोंमें यह प्रार्थना आती है कि हे परमात्मन्! मैं

सत्य बोलूं मैं यथार्थ ही कहूं। यही एक रीति है कि हम ईश्वरसे सहायता मांगते हैं। मुझमें वह सत्य बोलनेका बल व साहस दे कि कोई ऐहिक कारण स्वार्थ, भय, मोह आदि मुझे सत्यसे विचलित न कर सकें जो करें तो आप उचित व्यवस्था कीजिये, रोकिये और दण्ड दीजिये। वर्त्तमान प्रणाली यह है कि मैं व्यापक परमात्माको साक्षी करके सत्य कहता हूं—अर्थात् व्यापक परमात्मा ही ठीक ठीक जान सकता है कि मैं सत्य कहता हूं या झूंठ, जो झूंठ है तो वह राजाओंका राजा जगन्नाथ मुझे दण्ड दे। अतः मूल सिद्धान्त शपथका जो प्रत्यक्षमें अनुमान किया जा सकता है यह हुआ कि:—

(अ) मनुष्य स्वभावसे ही सत्यवादी है यदि कोई ऐहिक कारण वशात् मानवी स्वभाविक प्रक्रिया विरुद्ध चलनेका साहस भी होता हो तो इस ईश्वरको याद करके उसके भयसे सत्य बोलें। इस दशामें हमें वक्ताकी बातका विश्वास करना पड़ता है जबतक कोई प्रबल प्रत्यक्ष कारण इसके विरुद्ध न हो।

(इ) यह बात अनुभवसे मान ली गई है कि स्वार्थोंसे प्रेरित मनुष्य झूठ बोलता है वा बोल सकता है अतः उसे किसी तरह सत्यपर बाध्य करना उचित है।

(उ) मनुष्यको स्वभावसे ज्ञान है कि हमें सचसे अधिक लाभ है अथवा अधिक हानि मिट सकती है अतः झूठ न बोलूं। इसी बातकी चेतावनी शपथ देना वा लेना है। क्योंकि सामाजिक सुप्रबन्ध महानतम मानवी लाभ है, समाजका गठन ही सार्वभौमिक लाभके आधार पर है।

(ए) ईश्वर सर्वशक्तिमान जगन्निवास है उसकी अनुग्रह और आशीर्वादसे हमें सब सुख प्राप्त हो सकते हैं। उसकी

क्रूर दृष्टिसे हमारा सर्व नाश हो जाता है, साथ ही उसकी इच्छा, आज्ञा और शिक्षा है कि हम सत्य बोलें जिसको सब जानते व मानते हैं तो शपथ उसके नामके साथ देकर मानों उसे मङ्गल मार्ग दिखलानेकी चेष्टा होती है व कहा जाता है कि सत्य मांगलिक मार्ग है तुम उसी पर चलो। जो मनुष्य इसे जैसा कहते हैं मानें तो निस्सन्देह जगत्‌का मङ्गल ही मङ्गल हो किन्तु सत्य और मिथ्या भाषण नैतिक स्थितिपर निर्भर है। अनेक बिना शपथ ही कभी झूठ न बोलेंगे चाहे प्राण जाते रहें, कितने ही शपथ पर शपथ उठा सकते हैं पर बोलेंगे झूठ। हां थोड़े लोग ऐसे भी हैं जो शपथसे कुछ भयभीत हो जाते हैं। इस भयको स्थिर रखनेको ही मिथ्या शपथका दण्ड समाजने रखा है कि जिन्हें वर्तमान लाभ अपनी ओर खींच लेता है और परमार्थ व समाज रक्षाकी परवाह नहीं करते व झूठी शपथ लेते हैं वे कमसे कम दण्डके ही भयसे ऐसा न करें। अतः बहुतोंका कथन है कि शपथ लेना उचित है—दूसरे कहते हैं कि शपथ की प्रणाली उचित नहीं है—दोनो तर्क क्रमसे यों देखें :—

(१) शपथकी रीति अनीति जन्य है—उचित नहीं है।

(क) धर्म ग्रन्थोंमें शपथ लेना निषिद्ध है फिर हां या नाके सिवा जो कुछ भी कहें उसमें अक्षर मात्रा, और शब्दके अवश्य ही हेर फेर होंगे तो इस तरह पारिभाषिक (Technical) झूठसे बचाव कहां है।

(ख) यदि कोई नैतिक ज्ञान या मानवी समझकी निर्बलतासे झूठ बोलपेड़ तो उसके चिरसुखद मुक्ति सुखमें बाधा हो ऐसे कामके करानेका अधिकार एक मनुष्यको दूसरे पर नहीं है। जो ऐसा होता है अन्याय है।

(ग) किसी व्यक्तिको अधिकार नहीं कि वह इस तरह एक बातके वास्ते अपनी आत्माको इतने बड़े भयमें डाले नितान्त मूर्खकी बात दूसरी है।

(घ) शपथ उठानेसे हमारे दिलमें मौलिक सत्यभाषणका प्रभाव घट जाता है। शपथसे ही सत्य बोलते हैं विना शपथ झूठ बोलना पाप नहीं मानने लगते। बारम्बार ईश्वरके नाम पर शपथ उठानेसे हमारे मनोंसे ईश्वरीय प्रेम और प्रतिष्ठा कम हो जाती है। सार यह कि शपथ मनुष्यको सत्य और ईश्वरीय प्रेमसे वञ्चित करता है।

(ङ) जब झूठ बोलनेका दण्ड है तो फिर अन्य सामाजिक दोषोंकी तरह झूठ भी हुई फिर इसमें जीवात्मा पर एक और पारलौकिक बोझ क्यों लादा जाय परलोकका बन्धन क्यों लगाया जाय।

(च) अनुभव सिद्ध बात है कि जो कभी शपथ नहीं लेते शपथ लेने वालोंसे अधिकतर सत्य वादी होते हैं।

(२) दूसरा पक्ष कहता है कि—

(अ) धर्म ग्रन्थोंमें व्यर्थ शपथ लेना मना है निकि न्यायलयोंकी सहायतार्थ जो समाजकी शुभचिन्तक संस्था हैं।

(इ) पहले भी महात्माओंमें शपथकी प्रथाका होना इतिहास सिद्ध है।

(उ) प्राचीन धर्म शास्त्रोंमें भी शपथकी प्रथा उचित मानी गई है।

(ए) मिथ्या वादकी रोक आवश्यक है अतः ऐहिक व पारमार्थिक दोनों प्रकारके बन्धनका होना आवश्यकीय है।

दोनो पक्षोंको देखकर और अपनी तर्क बुद्धिसे पूर्वापर पक्षोंके समर्थन व खण्डनके और कारणोंको ढुंढ कर पाठक

समझ लें कि कौनसा पक्ष ठीक है। हम अपनी सम्मति इन तर्कोंके देखते यही दे सकते हैं कि शपथके विरोधी पक्षका तर्क पुष्ट तर है। केवल सत्य बोलनेकी साधारण प्रतिज्ञा बहुत यथेष्ट है शेष आडम्बर अनुचित, तर्क विहीन और अ-धर्म सम्पादक है। अधिक तर्क दोनों पक्षोंका दिखलानेसे एक छोटासा पृथक लेख हो जायगा, इस वास्ते हम इतनेहीमें अपनी सम्मति समाप्त करते हैं। वेदोंमें शपथ लेनेकी प्रथा का हमको पता नहीं मिलता। जिन मंत्रोंको आर्य्य समाजकी वादानुवाद समितियोंमें हमने शपथके अनुकूल पक्षको उद्धृत करते सुना है वह सब उनके अर्थ न समझनेके कारण या अर्थों को मड़ोड़कर अपना अभीष्ट सिद्ध करनेके लिये प्रतीत हुए।

ईश्वर प्रार्थना करना दूसरो बात है और शपथ दूसरी बात है।

जिस दशामें कि देशमें यह कुप्रथा प्रचलित है इस दशामें हम यही कहेंगे कि मनुष्योंको चाहिये कि शपथ लें या नलें पर जो कहें सत्यही कहें क्योंकि न्याय सबके लिये समान हितकारी है आज हम झूठ बोलकर काम निकालेंगे कल दूसरा हमारा विरोधी ऐसा ही करेगा और समाज दुःखका आकर हो जायगा जो अब भी कम दुखका आगार नहीं है।

शपथमें समय भेद भी होता है—एक तो गत समयकी बात को यथार्थ कहना, दूसरे आगेको किसी कामके करनेकी शपथ लेना। दूसरी बात तो और भी अधिक घृणित है। भूत कालकी बात तो हम जो जानते हैं ठीक कहदेंगे जो नहीं जानते, कहदेंगे नहीं जानते या याद नहीं।

पर भविष्यके सम्बन्धमें शपथ लेना महान अनर्थ निस्सार और मूर्खता व कुविचार जनित काम दोनों पक्षोंके लिये ही बुरा है।

मण्डल दूसरा ।

कर्तव्यलिंग भेदसे

कामसंयम्

अनुवाक १

प्रकट है कि परमात्माने जहां और सम्बन्ध और मानवी संगठन जन्य इच्छाओं और उनकी परितुष्टिके साधन बनाए, वहां पुरुष स्त्रीको भी बनाया कि यह साथ रहें और अन्य चाहतोंकी भांति कामकी भी तृप्ति करें। क्योंकि जो इनका संयोग हो ही नहीं तो प्रजा निर्बीज हो जाय जो अन्धा धुन्ध संयोग हो कोई क्रम सीमा या मर्य्यादा न हो तो नष्ट भ्रष्ट रोगी व कुमार्गी हो जायं; अतः—संयोग जहां ईश्वरीय इच्छाके अनुकूल पाया जाता है वहां यह भी है कि उसकी उसने कोई सीमा व मर्य्यादा बना रखी होगी इसी बातका पता लगाना नीति दर्शनका काम है।—

इसीका नाम है 'कामसंयम्' यह पुरुष स्त्रियोंमें समान नियमके साथ वर्तते हैं। स्त्री व पुरुषमें इनके मात्राकी कमावेशी नहीं है, सबल निर्बल या और तरह किसी शारीरिक कारणोंसे यदि कामका प्रभाव अधिक या कम व्यक्ति विशेषमें देखा जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि कामकी मात्राकी तारतम्यता है वरन् यह समझना होगा कि कोई अन्य भौतिक कारण काम करता है। जैसे एकी मात्रामें गरमी होती है यह नहीं कि हमारे निमित्त १०५ कक्षा पर व दूसरेके लिये ८५ कक्षा पर पारा रहता हो, पर कोई तो गर्मीकी आतपसे मर जाता है कोई कुछ भी परिवर्तन नहीं मान करता। अब परमात्माने पुरुष व स्त्रीमें एक ऐसाभान

(Feeling) दिया है कि जिससे वे जब विवाह सम्बन्धसे योजित हो जाते हैं तो एक दूसरेके व्यभिचारको सुन व देखकर एक समान पीड़ित मन होते हैं। जितना दुःख एक पतिव्रताको अपने पतिके व्यभिचारसे होता है उतना ही स्त्रीव्रतको अपने स्त्रीके। फिर कोई कारण नहीं कि पुरुष वह ब्रह्मचर्य्य जो चाहता हो कि स्त्री करे स्वयं न करे, या इसका उलटा। यदि किसी नीतिकी आवश्यकता है तो दोनोंको बराबर है नहीं तो दोनोंके स्वार्थोंमें भेद होनेसे जात्यान्तर गत विजातीयता उत्पन्न होकर जगतकी सानुकूलता (Harmony) में अवश्य बाधक होगी। इसी दृष्टिको लेकर हम काम संयमको देखते हैं और ईश्वरेच्छाका अनुमान दृष्टिमें रखते हुए नैतिक और अनैतिक सहवासका विचार करते हैं तो नैतिक नियम यों हमारे ध्यानमें आता है कि:—

ब्रह्मचर्य्य पालन कर्तव्य वा काम संयम इस इच्छाकी तृप्तिको परमित करता है—प्रत्येक व्यक्ति पर परमित करता है। जो आजन्म ब्रह्मचर्य्य न करके इस शक्तिसे प्रजावृद्धि रूप परमात्माकी आज्ञाका पालन भी करना चाहते हैं उनपर ब्रह्मचर्य्यका दूसरा पर्य्याय काम संयम भार होता है। ब्रह्मचर्य्य और काम संयममें यह अन्तर है कि इसमें तो संयमके साथ प्रजा उत्पादन चेष्टा करते हुए भी कोई दूषित नहीं होता क्योंकि जिस दूसरे प्राणीके साथ यह आजन्मके लिये संयुक्त हुआ है उसके द्वारा संयमसे काम करते हुए ब्रह्मचर्य्य नष्ट होना इस वास्ते नहीं मान सकते कि विना इसके ईश्वरीय प्रजा उच्छिन्न हो जाय जो कि उसकी इच्छाके प्रतिकूल है। इसलिये हमें बतलाया गया है कि "ऋणानि त्रीणि अपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्" पर उसमें (ब्रह्मचर्य्यमें) सर्वथा ऊर्ध्वरेता होना ही सार है व इसमें संयम।

बीसवीं सदीकी पाश्चात्य नीतिमें नवीन भावोंका अविर्भाव हुआ है तो भी वह समझती है कि सिवा विवाहिताके जिसके साथ हमारी सारे जीवनके लिये एकता हुई है अन्यत्र इस (काम) तृष्णाकी परितुष्टि न कर सकनेका प्रतिबन्ध नैतिक काम संयमकी सीमा है।

यहां हमें यह कह देना होगा कि यहांतक तो प्राच्य पाश्चात्यमें अन्तर लखा नहीं जाता पर अन्तर है वह यह कि पश्चिममें विवाहिताके सम्बन्धमें कोई संयमके विशेष नियम बाधक नहीं होते पर आर्य्योंमें विवाहिताके साथ भी काम व्यवहार संयमकी सीमा है जिसका अतिक्रमण हमें संयमी पदसे तुरन्त पतित कर देता है। साधारणात कह सकते हैं कि पतिव्रत और पत्नीव्रत अथवा दोनोंका योग व 'काम संयम' हमें निषेध करता हैः—

(१) लम्पटता या सहवास किसी पुरुष या स्त्रीका किसी दूसरे स्त्री या पुरुषके साथ जिस जोड़ेका आजन्म सयोंग सम्बन्ध विवाह ससंकारानुसार न हुआ हो। इसीको व्यभिचार परस्त्री वा परपुरुष गमन भी कहते हैं।

(२) अनेक और एकका विवाह संयोग। चाहे एक पतिकी पत्नियां अनेक हों वा एक पत्नीके अनेक पति हों दोनों एक बात हैं और एक समान अनुचित कृत्य हैं। यह बहुती (Poliandry) व बहुपी (Poligamy) प्रथा सर्वथा धर्म्म शास्त्र विरुद्ध है।

(३) दासी खरीदकर, या वेश्यादिकोंके द्वारा काम तृष्णा सन्तृप्ति महापाप है।

(४) बिना संस्कारकी मर्य्यादाके स्त्री पुरुषको दम्पतिकी भांति रहना बुरा है।

(५) अऋतु गमन। ऋतुगमनका विधान आयुर्वेद व धर्म्म शास्त्रमें सविस्तर है जिसका आशय केवल सन्तति उत्पादन है। सोभी धर्म्मानुकूल धार्म्मिक, व्रती, पुष्ट अरुज देश व ईश भक्त सन्तति उत्पादन।

पहिले मनुष्यका भाव दूषित होता है तब दूषितकृत्य वह करता है इस कारण भावोंको भी दूषित करना अनीति करना है, जैसे मनमें काम सम्बन्धी भावोंका लाना विचारना, वाक् विलास ; पुस्तक पाठ करना ; आंख, हाथ, पांवसे किसी पर बुरे इशारे करना; तसवीरोंका देखना, बनाना, रखना, कल्पना करना इत्यादि इत्यादि क्योंकि यह सब कृत्य मदनोत्तेजक हैं।

यहां दो बात प्रधान हैं एक तो दो व्यक्तियां पृथक अपना ऐक्य सम्बन्ध करैं और वह समाजके प्रकाशमें और सामाजिक प्रणालीके अनुकूल हो। क्योंकि मानी हुई बात है कि जन समूह प्राकृतिक धर्म और प्रकाशित धर्मके अकूनुल समाज रक्षाकी प्रधान दृष्टिसे अपने नियमोंको गठन करता है। यदि इसमें भूल भी हो तो भी हमें जबतक जिस समाजमें रहना होगा उसके नियम मानने होंगे लेकिन भूलको भूल बतला कर सब लोगोंको उस भूलसे बचा लेनेकी चेष्टा प्रत्येक व्यक्तिको करनी चाहिये जब कि उसे प्रतीत हो कि वास्तविक कोई सामाजिक नियम उचित बातोंको पूरा नहीं करता। पर त्रुटि रहित वैदिक मतमें यह बात नहीं मिलती।

दूसरे यह सम्बन्ध जिन्दगी भरके लिये हो।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि मरनेके बाद विवाह करने न करनेमें कोई विधिनिषेध नहीं है स्त्री हो या पुरुष। इस बातसे यह भी प्रतिध्वनित होता है कि जीते जी यह सम्बन्ध टूट नहीं सकता।

ईश्वरके प्रधान नियमके विरुद्ध अगणित जातियोंकी कल्पना और अनावश्यक प्रतिबन्धयुक्त कल्पनाओंने ऐसा कर दिया कि किसी जातिमें स्त्रियां कम किसीमें पुरुष कम होनेका दुःख जान पड़ने लगा, नहीं तो परमात्माने स्त्री पुरुषोंकी संख्या जगन्मण्डलमें लगभग बराबर ही बनाई हैं। लगभग बराबर यों जान पड़ता है कि ऐसा न करे तो सृष्टिमें प्रजा उत्पत्तिका क्रम उसके इच्छाके अनुकूल न हो। हम मरने पैदा होने जवान बूढ़े होनेवालोंका पता और मानवी मूर्खता जन्य अल्पवयस्क विवाह प्रथा द्वारा शीघ्र नष्ट होनेवाली घोकेकी सृष्टिका अनुमान यथावत नहीं कर सकते नहीं तो परमात्मा बराबर ही जोड़ोंमें जीवोंको रचता है। इस वास्ते स्त्रियोंका बांट पुरुषोंमें या पुरुषोंका बांट स्त्रियोंमें सम्पत्ति शास्त्र नियमानुसार उचित और समान होना ही श्रेयस्कर होता है।

नीति नियमानुकूल चलने वाली प्रजाकी वृद्धि देश और जातिका सौभाग्य है। परमात्माको जो प्रिय है सो प्रजाको देना चाहता है प्रजा ले और उसका आनन्द सम्भोग करे, परन्तु उसका कोई काम अनियन्त्रित नहीं है।

काम संयमसे प्रजापुष्ट, दीर्घायु, दृढ़ प्रतिज्ञ, देशभक्त और ज्ञानी होकर दिनोंदिन गुणित और फलित होती जाती है। जहां काम संयम नहीं है लम्पटता है वहां लौल्य, दौर्बल्य, स्वार्थ परायणता आदि युक्त, अल्पायु और दुर्बुद्ध प्रजा पैदा होने लगती है। और संख्यामें भी असंयमी प्रजा कम हो जाती है। इनकी संख्याका कई ऊपरी दोषोंसे बढ़ उठना भी बरसाती मेंढककी बाढ है जो शीघ्र ही विनष्ट हो जाती है।

विवाह संस्कारकी क्या आवश्यकता है? क्यों जोड़े पृथक हों। इसमें कई बातोंका विचार सम्मिलित है। जो अन्धाधुन्ध संयोग हों तो हममें बहुधा बच्चोंको पशुओंकी तरह छोड़नेका स्वाभाव पड़ जाय। पैतृक स्नेह और भक्ति और शिशु प्रेम व पालन कर्तव्य पाशविकसे अधिक न रहें। पुरुष कामका करने द्वारा धन उपार्जक और स्त्री घरकी सम्पति संरक्षका न हों, जो हों तो उनका प्रेम और लगाव क्षणिक हो, जिसका परिणाम वही पाशविक गति हो। सम्पतिके अधिकारोंको स्थिर करनेमें समाज असमर्थ हो जाय, और इतने बड़े बड़े दोष खड़े हो जायं कि समाजका स्थैर्य्य कठिन हो जाय।

(१) विवाह सम्बन्धसे बालकोंके पालने व शिक्षित करनेमें बड़ा उपकार होता है।

(२) एक पिताके पुत्रों, उत्तरोत्तर एक वंशके लोगों और एक जातिके लोगोंमें अपनापेका भाव सुदृढ़ हो जाता है।

(३) बच्चे व माता पिता आदिमें पारस्परिक सम्बन्ध केवल कर्तव्य पालनके ही रूखे विषय न होकर हमारे आनन्द सम्वर्द्धक भी होते हैं।

(४) समाजका जन्मस्थल ही विवाह संसकार है नहीं तो समाज न हो। ग्रहस्थाश्रम पर ही समाजका अधार सब विद्वानोंने माना है।

एकसे अधिक विवाह क्यों निषिद्ध हैं?

(१) पारस्परिक डाहकी उत्पत्ति इससे होती है। सौतिया डाह प्रसिद्ध है।

(२) प्रेम एक पदार्थ जिसका विभाग ठीक नहीं हो सकता फिर पतिप्रेम या स्त्रीप्रेम एक साथ अनेकके साथ कैसे पूरा पूरा स्थिर रह सकता है?

(३) जितना गर्भपात भ्रूण हत्या, बच्चोंकी हत्या, पाश्चात्योंमें होती है और जितने अनीति द्वारा उत्पन्न लड़के वहांके समाज द्वारा पलते हैं उनसे जान पड़ता है कि उनमें विवाह प्रथा और विवाहका भावार्थ ठीक नहीं जाना गया। या और जहां कहीं व्यभिचारादि दोष बढ़े हों या बढ़ते हों हमें जानना चाहिये कि वहां 'काम संयम' वेदानुकूल वर्तमान नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य समाजसे लाभ उठानेको हुआ है। और सामाजिक सुखका सबसे बड़ा और अति-उत्तम द्वार घरू सम्बन्ध हैं न केवल पति पत्नीके सम्बन्ध लेकिन माता, पिता, पुत्र, पुत्री, भाई, बहिन, आदिके सम्बन्ध भी। इन सबका आनन्द 'काम सयंमके' अनुकूल कम या ज्यादः होता है। जितना अधिक काम सयंम घर या समाजमें होगा उतना ही अधिक सुख होगा। जिसघर उठ सवेरे दो प्राणी डाहसे जलते दीखें क्या सुख वहां हो सकता है? जहां बिमाताओंकी सन्तति परस्पर लड़ती हों वहां भातृप प्रेम कहां अधिकतासे मिल सकता हैं?

कौन कैकयी और कौशिल्याके मनोंके अन्तरका फल नहीं जानता।

कोई कारण नहीं हो सकता कि क्यों हम समझें कि ज्ञान, बुद्धि, नीति समाज और धर्मसे उत्पन्न जो सुख एक लिङ्गको श्रेयस्कर है, वही दूसरेको नहीं है। परमात्मा दोनोंके सुखोंको क्यों समान दृष्टिसे नहीं देखता; क्यों स्त्री पुरुषोंके या पुरुष स्त्रीके सुखका ही निमित्त, एक कल्पित पदार्थ, मान लिया जाय।

जहां काम संयमको दृष्टिसे हटा दिया जाय वहां फिर स्त्री व पुरुषकी समतामें भेद आता है और दोनों बराबरके साथी नहीं रह जाते। दोमेंसे एक, मात्र दूसरेकी परतुष्टिकी चीज-ही रह जाती है।

जब तक यह न मालूम रहे कि हमारा सम्बन्ध सदाके लिये है उनके पारस्परिक स्वार्थोंमें विभेद हो जाता है और केवल पाशविक तृष्णाकी पूर्ति ही प्रधान हो जाती है। बच्चोंको माता पिता दोनोंकी रक्षा दरकार होती है पर उनमें दोनों के स्वार्थ विरोधी या अस्थाई ही होते हैं तो उनकी रक्षा यथावत एक ओरसे न होगी क्योंकि एक पक्षका स्वार्थ अस्थाई होगा। बालक भी जवान होकर वृद्ध पितरोंकी सेवा बिना भेदभावके नहीं कर सकते जिसने उनमें अधिक स्वार्थ लिया होगा उसीकी उनमें अधिक भक्ति होगी।

उक्त कथन, हम समझते हैं; काम संयमकी आवश्यकताको यथेष्ट सिद्ध करता है। अब जो कोई कहेकि यह सबदोष कभी कभी दुराचार करनेसे नहीं पैदा होते अतः हरज नहीं जो यदा कदा गुप्त व्यभिचार हो। इसका यही उत्तर है कि हम देखें कि ईश्वरने इसके वास्ते कितना कठोर दण्ड स्थिर किया है। वह किसीकी विशेष रियायत करनेवाला नहीं है सबके साथ समान न्याय करता है—राव हो या रङ्क, स्त्री हो या पुरुष।

यह लम्पटताका पाप तुरन्त चलन व्यवहार बिगाड़ देता है और ऐहिक व पारलौलिक सुखोंका विनाशक है। परमात्मा सर्वव्यापी सब जानता है। हम उसकी दृष्टिसे छिप कर कोई काम नहीं कर सकते। जब न्याय होगा तो यह चोरीसे एक-नियमके विरुद्ध किया हुआ काम कब बिना दण्ड

छोड़ दिया जायगा। हम समाजके नियमको भंग करते हैं जो ईश्वरीय इच्छाके प्रतिकूल है, चाहे यदा कदा हो चाहे सदा सदा। चाहे स्वाभाविक नित्य चोरी करनेवाला चोर हो, चाहे कभी कभीका पर दोनों चोर हैं। इससे सदाचारका समाजमें नाश होता है अतः अनीति है।

१ हमें कामका संयम इसतरह पर करना बतलाया गया है कि पूर्ण युवा न होनेतक ब्रह्मचर्य्य द्वारा नितान्त इससे दूर रहना।

२ युवा अवस्थामें गृहस्थ हो उन संयमोंके साथ इसे काममें लाना जो हमें विवाह प्रकरणमें वैदिक धर्म्म शास्त्रोंने बतलाया है।

३ अन्तमें पुनः ब्रह्मचर्य्यावस्थामें दोनों मिलकर लौट पड़ना; और अविवाहितोंकी भांति निस्सम्बन्ध होकर ब्रह्मचर्य्य पालन करके त्यागी हो शरीर त्यागना।

अनुवाक २ विवाह।

हम कह चुके हैं कि काम संयमकी धारा हमें स्त्री पुरुष संयोग हर तरह पर निषेध करती हैं सिवा इसके कि वह यावज्जीवनके लिये विशेषताके साथ संयोजित हों। क्योंकि यह प्रत्यक्ष ईश्वरीय इच्छा भान होती है कि दोनो लिंग एकत्र हो कर रहें और साथी बनकर एक दूसरेके सहगामी हों और बहुत बातोंमें अन्य साथी संगती और समाजोंसे इसमें भेद हों और इनके द्वारा नये सम्बन्ध पैदा हों और उनके नये नये स्वत्व व दायित्व हों। इसी ईश्वरीय इच्छाके अनुकूल स्त्री पुरुष सहवास क्या एक धार्मिक दृष्टि करते हैं जिसके नियमोंका विशेष रूपसे कहना नीति दर्शनका कर्तव्य है।

विवाहमें दो शरीर पवित्र धर्म्म बन्धनसे परस्पर ग्रन्थित होते हैं। और दोनोंमें कुछ परस्पर इकरार भी होते हैं मानो यावज्जीवन मिलकर किसी धर्म्मानुष्ठानके पूरा करनेकी एक टीप लिखी जाती है। वह संयोग धर्मानुकूल विद्वानोंके सामने ईश्वराराधनाके साथ होनेसे एक प्रकारकी ईश्वर साक्षीके साथ होता है। इसका तोड़ना सपथ तोड़ना ईश्वरकी आज्ञा भङ्ग करना और समाजको हानि पहुंचाना है अर्थात एक साथ तीन पापोंका करना है। क्योंकि (१) सचाईका नियम भङ्ग करना (२) काम संयम नियम भङ्ग करना (३) असमाजिकताका आचरण (४), दोष हैं।

परन्तु गारहस्थ्य धर्म्म सब धर्म्मों में बड़ा, पूज्य और पवित्र है। यह टीप और तद्गत संयोग परम पुनीत, आवश्यक और लाभ प्रद और समाजोपकारी संयोग है। इसीके द्वारा आगेको धर्म्मपालनमें तत्पर होनेवाली प्रजा होती है, इसीके द्वारा मनुष्य जातिका बड़प्पन और गौरव पशु आदिकों पर और मनुष्योपजातियोंमें जाना जाता है। इसीसे दीन, दुखी, धर्म्मज्ञोंका पालन व सत्कार होता है। जो इसकी आवश्यकता न होती तो परमेश्वर प्रजावृद्धि आदिके निमित्त उपरोक्त अन्य आवश्यकताओंके पूर्त्तिके लिये दूसरे उपाय रच देता।

आर्य्य समाजके गौरवके निमित्त नहीं किन्तु सब मनुष्य समाजके निमित्त ही वेद भगवानकी आज्ञानुसार स्मृतियोंमे जो गर्भ्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टि पर्य्यन्त सोलह संस्कार बनाये हैं उनमेंसे एक उपनयन दूसरा विवाह संस्कार सबमें श्रेष्ट बतलाया है। वह ग्रहस्थ बननेकी तय्यारी है यह ग्रहस्थ बनना है।

देखना यह है कि इस टीपकी असलियत क्या है? इस टीपकी शर्तें क्या हैं अर्थात विवाह व उसके कर्तव्य क्या हैं?

विवाह ईश्वर स्थापित प्रथा है अतः उसीके नियमाधिगत है इसमें किसी मानवी नियमका हस्ताक्षेप नहीं हो सकता। अतः इस सम्बन्धमें समस्त मानवी नियम ईश्वरीय नियमके अक्षरशः अनुकूल होने चाहियें। पुरुष और स्त्री मिलकर एक अङ्ग होते हैं परस्पर अर्धांगी अर्धांगिनी कहे जाते हैं। ईसाई मतमें भी म० मसीहका कथन ऐसा ही है 'They two shall be one flesh' यह दोनों मिलकर एक शरीर होंगे।

यह टीप उभय पाक्षिक प्रतिबन्ध सहित होती है। उनके सम्पूर्ण ऐहिक व पारमार्थिक कृत्य एक होते हैं। विवाहोंमें आर्य्य कुलकी पद्धति अनुसार जो वर कन्याके बचन होते हैं उनको यहां कहना बहुत आवश्यक नहीं है, क्योंकि प्रायः सब ही जानते हैं। यहां दार्शनिक रीति पर युक्ति युक्त बातों पर ही हम विचार करते हैं, पर इतना कहना उचित जानते हैं, कि विवाहका मुख्याभीष्ट प्रजोत्पादन है अतः जबतक वर कन्यामें यह शक्ति उत्पन्न न हो या जब उनमेंसे दोनों या किसी एककी इस शक्तिका नाश हो जाय तब, विवाह करना विवाह नहीं है वरन एक अधर्म और महान पाप है। इस विषयमें हम श्रद्धास्पद लाला रा० ब० बैजनाथ कृत 'शोशलरिफार्म' नामका ग्रन्थ पढ़नेका अपने पाठकोंसे अनुरोध करते हैं। विवाह काल स्त्रीका १६ वर्ष व पुरुषका २५ वर्षकी अवस्था वेद विहित है २० से ऊपर स्त्री व ४५ से ऊपर पुरुषका विवाह भी बाल विवाहके समान ही निन्दित है। हां सच्चे बाल ब्रह्मचार्य्योंमें इस आयुका विचार नहीं भी रखना ठीक है।

विवाह संयोगका आधार सच्चा प्रेम है। विवाह संस्कार द्वारा स्त्री पुरुष परस्पर न केवल अन्योन्य प्रतिष्ठा की ही, एक दूसरेके दुख सुखमें भाग लेने की ही प्रतिज्ञा करते हैं वरन उस प्रतिष्ठाकी प्रतिज्ञा करते हैं जो अद्वितीय है अर्थात अपने तन मन धन और शरीरका परस्पर एक दूसरेको अधिकारी बनाते हैं। मसीहका यह वचन कि 'For this Cause shall a man leave father & mother but adhere to his wife' हमें बहुत घृणित प्रतीत होता है। पैतृक प्रेम दोनों पक्षोंका समान होता है और उसका मिलकर स्त्री पुरुषको पालन करना आर्य्य मर्य्यादा है किन्तु पैतृक स्नेह, सम्बन्ध, और प्रतिष्ठासे इस सम्बन्धको अधिक प्रतिष्ठा देना महा पाप है। पतिका काम है कि पत्नीके मनको थोड़ा भी दुख न पहुंचाये साथ ही पत्नीका भी यही काम है कि पतिका मन किसी तरह दुखित न होने दे। इस दशामें परमात्मा गुरू, पिता, माता, देश और संसारके प्रेम दैवी कक्षाके प्रेम हैं, ऐहिक प्रेमोंमें पति पत्नी प्रेम सर्व श्रेष्ठ होते हैं न कि दैवी प्रेम पर। देखिये इस टोपकी लिखावट वेदानुकूल यह है:—

ओं गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवा॥ १॥

ओं भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत्। पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव॥ २॥ ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः। मया पत्या प्रजावति शं जीव शरदः शतम्॥ ३॥ त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभेकं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम्। तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परिधत्तां प्रजया॥ ४॥ इन्द्राग्नि द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा। बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं

प्रजया वर्धयन्तु ॥ ५ ॥ अहं विष्यामि मयि रूपमस्या वेद्-दित्पश्यन्मनसा कुलायम्। न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रन्थानो वरुणस्य पाशान् ॥ ६ ॥ ओं अमोऽहमस्मि सा त्व ए सा त्वमस्यमोऽह सामाहमस्मि। ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहा वहै सह रेतो दधा वहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्। ते सन्तु जरदृष्टयः सं प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शत जीवेम शरदः शत ए शृणुयाम शरदः शतम् ॥ ७ ॥

पाठक उक्त प्रतिज्ञाओंको देखकर जान सकते हैं कि आर्य्योंमें विवाह सम्बन्ध क्या समझा या माना जाता है पाश्चात्य अनार्य्य जातियोंमें यह एक प्रकारका विचित्र खेल सा है। माता पिता, सासु, ससुर समान मानकर दम्पतिके २ माता और पिता सेव्य देव हैं।

इस विवाह सम्बन्धमें इतनी बातें और भी जान रखनी चाहियें।

(१) पारस्परिक स्वत्व दोनोंके बराबर होते हैं।

(२) दोनोंकी सम्मतिसे विवाह होना चाहिये बिना उनकी मरजी माता पिता या किसीको विवाह करनेका अधिकार नहीं है।

(३) मोल लेना, छीन लेना, भगा लाना इत्यादि सब व्यभिचार साधन हैं वैवाहिक धर्म्म साधन नहीं।

(४) वेद विरुद्ध चलनेको परस्पर सहायता करनेके लिये विवाह द्वारा पति पत्नी बाध्य नहीं होते।

(५) व्यभिचार दोषसे व्यभिचारी पतिको या व्यभिचारिणी स्त्रीको दण्ड होना चाहिये प्रतिज्ञा नहीं टूट सकती।

प्रतिज्ञा तोड़ कर अन्य विवाह करनेका रास्ता खोलना व्यभिचारका मार्ग खोलना और दाम्पत्ति प्रेमको सिथिल करना है।

(६) पतिके मरने पर पत्नी और पत्नीके मरने पर पति ब्रह्मचर्य्य पालन करें उन्हें कोई अधिकार किसी कुमारी या कुमारेके स्वत्व भङ्ग करनेका नहीं है।

(७) यदि ब्रह्मचर्य्य पालन असम्भव है तो व्यभिचारसे अपनी रक्षा करनेको पुनः विवाह करलें पर यह विवाह रांड़ और रंडुओंका हो सकता है यदि ऐसे धर्म भ्रष्ट जोड़े बननेको तय्यार हों। धर्म्म भ्रष्ट इस वास्ते कहा जाता है कि धर्म्म शास्त्रोंने कामाग्नि प्रशान्तिके लिये विवाह नहीं बतलाया। किन्तु व्यभिचार रूप महा पापसे बचनेके लिये यह सर्वथा नीति सम्मत है कि विधवा विवाह हों।

(८) जो स्त्री या पुरुष यह कहे कि हम ब्रह्मचर्य्य पालन करनेमें तो समर्थ हैं किन्तु हमको सन्ततिकी ही प्रबल कामना है तो इसके वास्ते प्राचीन व्यवस्था तो यह थी कि मनुके कथनानुसार नियोगसे सन्तति उत्पन्न करलें पर हम सर्वथा इस प्रथाके उस समय तक विरोधी हैं जबतक हिन्दूस्थान पुनः सच्चा आर्य्यावर्त न बनले क्योंकि, आजकल यदि हम नहीं कह सकते कि कोई जितेन्द्रिय है ही नहीं, पर इनकी संख्या खोज करने पर बहुत ही कम मिलेगी अतः नियोगकी प्रथासे विधवा विवाह ही समयानुकूल है। क्योंकि रंडुओंका विवाह होता ही है जिससे प्रकट है कि विधवा विवाह आधा प्रचलित है शेष आधा और भी प्रचलित करदेना बुरा न होगा; नीति सम्मति होगा। विवाहोंमें नीति, धर्म्म, और समाजके हानि लाभके विचारोंके विनाही जो अनेक अनीतियां और मूर्खताएं होती हैं उनका कथन इस विषयका अति-क्रमण है

अतः हम उसे सामाजिक सुधार विषयके लेखकोंका काम समझ छोड़ते हैं।

कोई विवाह, धर्म विवाह नहीं जो ब्रह्मचर्य्य भ्रष्ट, विना दोनोंकी सम्मति, और मा बापोंकी मूर्खता और स्वार्थियोंके धोकेबाजीसे किया जाय।

सगाईकी मर्य्यादा नीति विरुद्ध स्थिर हो गई है इससे कोई लाभ नहीं, हानि यह है कि यदि दोनों परस्पर विवाह को राजी न हुए हों तो सत्यका नियम भङ्ग होगा। वाक् दान प्रथा दो चार दिन पहलेकी है नकि वर्षों पहले हो। द्विरागमन (गौना—आंचरका—नियम भी नीतिके विरुद्ध) है। इस दुर्नीतिके कारण अनेक अक्षत योनि वाल विधवाएं दुख भोगती दीख पड़ती हैं। जो बालक कन्याओंका द्विरागमनके विचारसे जल्दी विवाह करते हैं वे माता पिता राक्षस व सन्तान घातक हैं वे जानकर कन्याओंके विधवा बनने, पुंश्चली होने और समयसे पहले सहवासका विषय मनन करके नष्ट भ्रष्ट होनेका औसर देते हैं। और देशमें निर्बल अयोग्य व अनार्य्य लोगोंकी संख्या बढ़ाते हैं।

मण्डल दूसरा।

अनुवाक २

"पितृ और सन्तति।"

मानवी सुख वृद्धिके निमित्त जिन नैतिक और भौतिक नियमान्तर गत प्रकृतिने मनुष्यको स्थान प्रदान किया है उनकी अनुकूलताका सौन्दर्य्य विवाह और पितृ व सन्तति नियमोंके सम्बन्धोंमें अच्छीतरह प्रकाशित होता है। यदि

विवाहकी भौतिक और नैतिक स्थितियां किसीतरहपर भी वर्त्तमान स्थितियोंसे विभिन्न होतीं तो जो बुराइयां खड़ी होतीं उनका पारावार न रहता। दूसरी ओर जो स्थितियोंका अच्छीतरहपर ठीक २ विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि इनमें न केवल उत्तरोत्तर पीढ़ियोंकी क्षेम कुशलका ही प्रबन्ध प्रस्तुत है वरन् असीम समाजोन्नतिका भी अभिप्राय दृढ़ किया गया है।

हम देखते हैं कि मनुष्यजाति पैतृक सम्बन्धका भार उठानेको उस समयतक अयोग्य होती है जबतक कि युवा न हो, बहुतसा ज्ञान और अनुभव न प्राप्त करले और ऐसे श्रम करनेके योग्य न बन जाय कि जिससे अपनी सन्ततिका पालन पोषण यथावत् कर सके। यदि ऐसा न होता तो बच्चे भी जनकजननी होजाते बच्चों और पितरोंको (Parents) शारीरकी और समझकी निर्बलतामें साथ साथ बड़ा होना होता—और मनुष्यकी सदाचार-व-ज्ञान-वृद्धि असम्भव होजाती, जिससे लगभग मनुष्य जातिमात्र ही रोगसे और अनेक अन्य अभावोंसे विनष्ट होजाती—जैसा कि हम वर्त्तमान भारतमें बाल विवाहादिसे देख रहे हैं कि कम समझ बच्चे सुध संभालते ही माता पिता बन जाते हैं जिसके कारण देशमें दरिद्र, निर्बल कायर, और दुर्बुद्धियोंकी वृद्धिके साथ महामारी और अकाल भी फैल रहे हैं।

पुनः परमात्माने माता पिताको सन्तति प्रेम प्रदान किया है जिससे पितृगण सन्ततिकी कुशलकी चिन्ताको आनन्द और सौभाग्य मानते हैं और स्वशक्तिभर अपने अनुभव, बल, विद्या और उपार्ज्जित व सञ्चित सुख-साधक पदार्थोंसे सन्ततिका उपकार करते हैं। दूसरी ओर बच्चोंमें, यदि पितृके समान तो नहीं, पर प्रेम होता है; सदा अपने पिता माताकी इच्छाओंके

आधीन रहनेका स्वभाव होता है, यह उनकी अनुज्ञाओंके अधिगत रहते हैं और उनके अनुकूल चलते हैं, यदि उनकी बुद्धिकी उन्नतिमें कुप्रबन्ध कारण न हो। यदि परस्पर पितरों और सन्ततिमें यह बात न होती तो सारा सामाजिक प्रबन्ध उलट पुलट होजाता और मनुष्यजातिपर बड़ी मुसीबत हुई होती।

फिर देखते हैं तो प्रत्यक्ष होता है कि सभ्य समाजका गठन, व्यक्तिक निज इच्छाओं और वाञ्छाओंको समष्टिके भलेके लिये सौंप देनेसे ही बना हुआ है। निस्सन्देह आत्मशासनकी बड़ी आवश्यकता है—स्वभावसे ही आत्मशासनकी बड़ी ही जरूरत है। घर रूपी समाज इसीलिये बना है कि समष्टिके उपकारकी शिक्षाका पालना हो। पितृ समझदार और पूरी आयुके होनेसे उन्हें बच्चोंको उपदेश पूर्वक दबावमें रखनेका यथेष्ट अनुभव होता है। और वह यह दबाव बच्चेके भलाईके निमित्त स्वभाविक बुद्धिसे काममें लाते हैं और बच्चा भी स्वभावसे इनके अधिगत होता है और इनकी मानता है, यदि नियमानुकूल शासन होता रहे। बेसमझीका अत्याचारिक शासन बालक हो वा स्त्री सबको विराम कर देता है। बालक इसतरह बालपनसे ही दूसरेकी इच्छाओंके माननेको तय्यार किया जाता है। वह घरमें ही सीख लेता है कि उसे समाजके नियमोंका पाबन्द रहना चाहिये जिसका कि उसे एक सदस्य बनना है। इसीलिये माता पिताकी आज्ञापालनका बच्चोंमें ढीलापन होना सर्वथा उनके सामाजिक अधोपतनका कारण होता है और निस्सन्देह सार्वजनिक दुःख और अराजकताका पूर्व-रूपसूचक होता है। अनाज्ञानुवर्ती सन्तति किसी देशमें बढ़ना उस देशकी सामा-

जिक स्थितिका बुरा चिन्ह है। कहावत है कि जो माताको ही नहीं मानता वह और किसे मानेगा।

यह भी साधारण कहावत है कि बालक जितने आदर्शसे प्रभावित होते हैं उतने दूसरी तरह नहीं। अब, विवाह संस्कार द्वारा मानवी प्रकृतिका यह सिद्धान्त सम्भवतः महान्‌-तम भलाईके निमित्त साधनके समान काम देता है। ऊपर हमने देखा है कि विवाह संस्कारकी जड़ धर्मके साथ साथ पारस्परिक प्रेम भी है। जब दो प्राणी राजी होकर प्रेम-पूर्वक इस धर्म बन्धनमें धार्मिक प्रतिज्ञा पूर्वक पदारोप करते हैं तो प्रत्यक्ष है कि दम्पतिमेंसे एकका सुख दुःख एकका नहीं वरन्‌ दोनोंका सुख दुःख होता है। पतिके सुखमें पत्नीका सुख और पत्नीके सुखमें पतिका सुख निवास करता है। जब यह आदर्श बच्चोंके सामने उपस्थित होता है कि लगातार नि-स्स्वार्थभावसे एक व्यक्ति दूसरेके सुखमें ही अपना सुख जानता है और घरका समाज इसी सिद्धान्तपर चलाया जाकर सब सुखका मूल बन रहा है; तो बच्चोंमें भी स्वार्थत्याग, दूसरोंके सुखमें ही अपने सुखका ज्ञान और आत्मत्याग (खुद इनकारी) का स्वभाव उत्पन्न होता है। इन शुभाचारोंसे प्रादुर्भूत फलोंका स्वाद उन्हे आदर्श द्वारा बाल कालमें ही मिल जाता है। जब मा बाप कोई पदार्थ आप इकले न खाकर उस समय तक रख छोड़ते हैं कि जब बच्चे इकठे हो जायं, और तब सबको बांटकर आप खाते हैं व कभी २ आप नहीं भी खाते। बच्चोंको इस आदर्शसे दूसरोंके साथ प्रेम करनेमें एक अलौकिक सुख भान होता है और वे भी क्रमशः यही सीखते हैं कि जो उन्हें मिले घरू समाजमें बांट कर खायं। युवा होने पर यही शिक्षा, उन्हें देशरूपीमहान घरके

रहने वाले देशवासी बन्धु, बान्धव, वृद्ध बाल मात्रको एक अद्भुत प्रेम दृष्टिसे देखनेको व वर्तनेको समर्थ करती है। इसके साथ ही वश शासन करने, व्यवस्था देने आज्ञा पालन करनेकी भी शिक्षा सचेष्ट, बुद्धिमान, सदाचारी माता पितासे ही पाते हैं। कैसे हमारी माता हमारे पिताकी, बड़ाभाई हमारे माता पिताकी, आज्ञा पालन करते हैं, हमारे आपसके झगड़े पितृगण कैसे निबटाते हैं; किस तरह बड़ोंकी प्रतिष्टा व छोटों पर शासन रखते हैं—सब बच्चोंको आदर्श होता है। वे जान लेते हैं कि आज्ञानुवर्ती होना उचित स्थलमें महत्व जनक होता है, नकि गुलाम गीरीकी तरह बुरा भाव गर्भित।

उक्त कथनोंसे पितरों और बच्चोंके सम्बन्धोंका, जो स्वाभावसे है—बोध होता है। यह सम्बन्ध बड़े और छोटेका सम्बन्ध है। पितरोंका काम है आज्ञा करना बच्चोंका काम है आज्ञा पालन करना, एक को अधिकार है दूसरा आज्ञानुवर्ती है। यह सम्बन्ध हमारी गठनका एक अङ्ग है और जो दायित्व इससे उत्पन्न होता है वही हमारा कर्तव्य है। यह केवल सुभीते और शिष्टाचारकी बात नहीं है किन्तु जिन सम्बन्धोंमें हम सिरजे गये हैं उनका स्वत्व है, इनके भङ्ग करनेसे हमारे वास्ते स्रष्टाने दण्ड विशेष नियत किये हैं इन दण्डोंका कष्ट हमें उठाना पड़ता है।

दण्ड होते हुए भी और ईश्वरीय अटल न्यायधाराके रहते भी वह भाव जिससे इस कर्तव्यका पालन हो प्रेमपर आधारित होना चाहिये और होता भी है। दोनों ओर प्रेमसे ही इन कर्तव्योंका पालन उचित है। यदि पिता शासक और पुत्रका अधिकारी स्वामी है परन्तु यह उसका धर्म नहीं कि प्रेम विहीन, पुत्रके लाभोंको दृष्टिबहिः करके अपने

ही व्यक्तिक स्वार्थके लिये, हकूमत दिखलानेको ही अथवा और किसी नष्ट या निन्दित भावसे पुत्र पर, अनुचित शासन करे। पिताका कर्त्तव्य है कि वह इस पवित्र अधिकारको पुत्रके श्रेयको ध्यानमें रखकर काममें लावे, ऐसे पवित्र अधिकारका दुरुपयोग बहुतही बड़ा पाप है। जिस वास्ते यह अधिकार ईश्वरने दिया है उसीके वास्ते काममें लाना ठीक है अन्यथा नहीं, नहीं तो वह समाज और ईश्वर दोनोंके सामने दायी पकड़ा जायगा। जो पितरों और बच्चोंकी ओरसे किसीकी अ-योग्यता वा अकर्त्तव्य परायणता भी सिद्ध हो तो भी दूसरे पक्षके स्वत्व व दायित्व नष्ट नहीं होते। जो बच्चा अनाज्ञाकारी हो तो भी पिताका धर्म नहीं कि इसके कल्याणका चिन्तन छोड़दे और अपने अधिकारको गया हुआ मानकर बैठ रहे व फिर न उसी हकूमतसे समझावे। ऐसे ही पिता माता भी जो कोई अनुचित बे समझी का वर्ताव करैं तो पुत्रका दायित्व नहीं मिटता उसका आवश्यक कर्त्तव्य है कि उनकी प्रतिष्ठा, पूजा आज्ञा पालन यथावत् ही यावज्जीवन करता रहे। माता पिताका धर्म है कि पुत्रको ऐसी शिक्षासे सम्पन्न करैं जो उसके ऐहिक व पारमार्थिक दोनों सुखोंकी दात्री हो। इसमें कई बातें सम्मिलित हैं।

(१) पालन पोषण। पितरौंका धर्म्म है कि जिस बच्चेको उन्होंने जन्म दिया है पाल पोषकर सही सलामत रखें। जो ऐसा नहीं करते वह समाज व परमात्मा दोनोंके सामने दोषी होते हैं। बच्चोंकी हत्या ईसाई योरोपमें अधिक होती है क्योंकि यहां व्यभिचार अधिक है और धर्म्म व सदाचार केवल ऊपरी ठाठ व दिखावेको ही है। भारत निवासियोंको इस शीर्षकमें शिक्षाकी आवश्यकता नहीं है। समयके फेरसे, पौरा-

यिक शिक्षासे या विदेशी अत्याचारसे वा दान दहेजकी मूर्खता जन्य प्रथाके भयसे कुछ दिन भारतमें कन्याओंकी हत्या दुष्ट लोग करते थे जिस पापका दण्ड वे आजतक भोगरहे हैं, परन्तु अब नहीं है। सतीकी रीत और कन्या-बध मुसलमानोंके अत्याचारसे उत्पन्न हुई, अङ्गरेजोंकी भलाईसे शमन हुई क्योंकि अङ्गरेजी शासन कुछ बातोंमें चाहे मुगलोंसे भी बुरा हो परन्तु अनेक बातोंमें उनसे कहीं अच्छा है। पिता पुत्रको कैसा बनावे यह सामान्यतः बहुतसा तो कहदिया गया विशेषतः कहना कठिन है क्योंकि सबकी स्थिति एक समान नहीं होती, तो भी समाजको दुखप्रद न होकर धर्मसे उपार्जित जीविका करनेवाला देश भक्त ईश्वर प्रेमी सादाचलन बनाना समान रूपसे सबको अभीष्ट है। अमीरको, सौदागरको, पंडितको, कारीगरको अपने अपने स्थितिकी योग्यतानुसार पुत्रको बनाना उचित है। अमीर जो लड़कोंको कुपढ़, अभिमानी, सुस्त और वेकार बनादेते हैं, वे अनीति करते हैं। फजूल खर्च, नशेबाज, दुराचारी, बुरी सङ्गतमें बैठने वाला किसी तरह बच्चे को न बनाना चाहिये। बालक बालिकाओंका समयसे पहले विवाह कर ग्रहस्थीका बोझ उनपर डालना और निर्बलकरना तथा कमाई न करने योग्योंको कमाईका अनिवार्य्य बोझ डालकर उनके भविष्यतका नाश करना अनीति है। विवाह करना पिता माताका काम नहीं है। विवाह करनेमें सहायता देना, सम्मति देना, जो बच्चे की पसन्द अशुभ हो तो उसे रोकना बतलाना इनका काम है क्योंकि आजन्म पति पत्नीको ही निर्वाह करना होता है उन्हें अपने अपने हानि लाभको समझ लेने देनेका अवसर देना चाहिये। जो लोग आयुके नीचे ही विवाह करते हैं वे महा पापी और दुष्ट व छली हैं। ईश्वरकी

आंखमें वा विद्वानोंकी आंखमें वा देवताओंकी आंखमें धूल झोंकना चाहते हैं जो नितान्त असम्भव और अनुचित है। प्रतिज्ञा करने वालोंको अपनी प्रतिज्ञाओंके समझने और नये सम्बन्ध जनित करणीयों और स्वत्वोंको समझनेकी योग्यता होनी चाहिये, नहीं तो वह प्रतिज्ञायें केवल पापका कारण होती हैं।

(२) माता पिता ऐसा शिक्षक खोजकर बच्चेको सौंपे जिससे वह अभीष्ट सिद्ध हों जो माता पिता शुद्धबुद्धिसे बच्चेके सहज श्रेयके हेतु विश्वास करते हों।

(३) शिक्षा कालमें पड़ताल करते रहें कि बालकको जो शिक्षा हो रही है उससे अभिवाञ्छितकी सिद्धि होगी या गुरू अपना काम ठीक और धर्म्म पूर्वक न करके योंही बच्चेका समय नष्ट करा रहा है। गुरू पूरा विद्वान उस विद्याका हो जिसे सिखाना अभीष्ट है और सदाचार सम्पन्न धर्मात्मा भी हो, नहीं तो शराबी कबाबी पादरी मोलिवियोंके जैसे चेले होते हैं और भक्कड़ सुलतान पण्डितोंके जैसे शागिर्द रशीद बनते हैं, बनेंगे।

(४) शिक्षा कालमें पितरोंका काम है कि उत्साह प्रवर्द्धक, मेहनती प्रसन्नात्मा बनने बनाने वाले वर्तावोंसे बच्चोंको वर्तें। बच्चेकी शिक्षामें स्वार्थ व आनन्द प्रकट करैं, पारितोषिककी भांति भी चीज वस्तु देकर प्रसन्न करते रहें यही पैतृक अधिकार, मित्रता और शासनकी उचित सहायता है। लालन, पालन, और ताडनसे यथोचित काम लें, अन्धाधुन्ध नहीं।

(५) पिताको अपना काम हरज करके भी यह करना होगा। उसे यह कहनेका अधिकार नहीं है कि मुझे समय

नहीं है। जो काम ईश्वरने उसके सिरपर डाला है उसे उसको शुद्ध मनसे करना चाहिये नहीं तो वह ईश्वरका दोषी और समाजका अशुभेच्छु है, इतना ही नहीं वरन वह बच्चेके और अपने ऊपर भी मानो दुखोंको निमंत्रण देकर ला बैठालना चाहता है।

(६) पिता माताका परम धर्म है कि अपने बच्चोंको नीरोग, बलिष्ट, धीर, वीर बनावें जो धर्म्म, मर्य्यादा और देशके निमित्त सर्वस्व उत्सर्ग करनेवाले हों। इसके वास्ते उन्हे उचित भोजन, उचित परिमाण और समयपर देना चाहिये, व्यायामका यथावत् प्रबन्ध होना चाहिये, उनके प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्गोंको बलिष्ट, स्फुरित और चैतन्य बनाना चाहिये। जिससे उनमें श्रम करनेकी रुचि, साहस और सन्तोषसे कठिनाइयोंके सहनेका अभ्यास भी हो। थोड़ीसी सरदी गरमीमें घबड़ावें नहीं, मरने कटनेके नामसे हिजड़ोंकी तरह न डरकर भगें, ऐसा प्रबन्ध उनके व्यायाम सम्बन्धी शिक्षामें होना परमावश्यक है।

अधिक काम लेना, सदा ही खानेपीनेका विचार न करना, स्वास्थ्यका विना विचार किये ही जिसतिस काममें लगाये रखना, उन्हें बीमार करके अकाल ही कालको सौंपनेके समान है। जबतक वे धीरे धीरे थकावट आदिमें अभ्यस्त न हो लें उन्हें ऐसे काम न देने चाहिये। कोई-कोई मूर्खतावश घरसे ही नहीं निकलने देते और अफीम, भांग खिलाते हैं, हव्वा, बाबाजीका और कुछ बड़े होनेतक अनेक प्रकारके भय हृदयस्थ करके बच्चोंका कलेजा कच्चा कर डालते हैं यह बुरा है। बच्चोंको निर्भय स्वतन्त्र उच्चाभिलाषी बनाना योग्य है।

जो बालक अपनेको अपने गुरू पिता माता और वृद्धजनोंसे अधिक चतर समझता है मानो वह दुर्भाग्यमें फंसा है। बुद्धे

पढ़ना छोड़कर काम करते हैं बच्चे पढ़ते हैं फिर इनमें समता बहुत कालतक नहीं रह सकती पर इस कारण क्या कोई बच्चा अधिकारी है कि माता पिता आदिको मूर्ख समझे? हम वृद्धोंकी प्रतिष्ठा अपना धर्म जान कर, उन्हें प्रतिष्ठापात्र जानकर करते हैं न और किसी भावसे। पुनः बच्चा कितना ही विद्वान् हो किन्तु प्रकृतिरूपी ग्रन्थके पाठमें सर्वथा वृद्धोंसे पीछे रहता है और उसे उनसे शिक्षा लेनेकी आवश्यकता बनी ही रहती है।

(9) नैतिक शिक्षा केवल माता पितासे ही उत्तम होती है, यों तो पाठशालाओंमें भी ध्यान दिया जाता है। आजकल तो आर्य्यपाठशालाएं हैं ही नहीं, जबतक हमारे हस्तगत गुरुकुलरूप अनेक विश्वविद्यालय जुदा जुदा विद्याओंके न हों आर्य्यत्वस्वप्न ही है, पर तो भी हमारा धर्म है कि बच्चोंको यथाशक्ति नीति निपुण, नीति-धर्म-परायण बनावें। इस वास्ते नीतिशास्त्रके पढ़ानेकी प्रथा भारतमें बहुत ही पुरानी है। नीति क्या है? इसका उत्तर रूप ही यह ग्रन्थ लिखा गया है, जो कमी रही होगी उसको विद्वज्जन पूरा करनेकी चेष्टा करेंगे।

वैदिक धर्म सिद्धान्तोंका बतलाना, नित्य नैमित्तिक कर्मोंका कराना, समयपर सोकर उठाना व सुलाना। मनुष्यका ईश्वरसे क्या सम्बन्ध है व मनुष्य मनुष्यका क्या सम्बन्ध है इत्यादि इत्यादि बातोंका बतलाना बहुत जरूरी है।

जैसे—तुम्हें किसने बनाया—परमात्माने।

जगत् किसका है? —ईश्वरका।

उसका नाम क्या? —ओ३म् है।

तुम्हारा उसका क्या सम्बन्ध है—पिता पुत्रका, स्वामी-सेवकका, शासक-शासितका।

इन सब बातोंको सविस्तर हृदयङ्गम कराना।

पुनः देश किसका—हमारा। तुम कौन—आर्य्य। तुम्हारा सर्वस्व क्या—ईश्वर, वेद और देश। क्यों तुम्हारा जन्म हुआ—ईश्वर, पिता मातादि गुरुजनोंके साथ देशके दीन दुखियोंकी सेवा करना, बाहुबल, बुद्धि बल और धनसे देश व देशवासियोंकी रक्षा करना, मनुष्यमात्रमें शान्ति स्थापन करना हमारे जन्मका उद्देश्य है। यदि हम यह सब बातें लिखें तो बड़ा विस्तार हो। चाहिये कि छोटी छोटी नीति शिक्षाकी प्रश्नोत्तरियां छपकर बच्चोंके हाथोंमें, क्रमशः गूढ़ होती हुई, पहुंचें। उच्च श्रेणीमें पूरे दर्शन सौंपे जायं तब नैतिक शिक्षाका लाभ हो सकता है।

(८) बच्चे जगतमें बिलकुल बेसमझी लेकर प्रविष्ट होते हैं उनमें सिवा सम्वेग, और योग्यताओंके और कुछ नहीं होता। जितना इनका नादानपन शिक्षा द्वारा दूर किया जायगा उतना ही वह सुखी और लाभप्रद बनेंगे अतः इन सम्वेगों और योग्यताओंको हमें (पिता माताको) चाहिये कि सोधें, सम्हालें, उपदेश, आदर्श और अनेक शिक्षाओं द्वारा उनके मन क्षेत्रको (धर्मसे मनुष्य धर्म अभीष्ट है) धर्म क्षेत्र बनानेकी चेष्टा करें। कमसे कम जितना हम स्वयं जानते हों उतना तो अवश्य ही सिखला दें, शेष गुरु द्वारा हो, या समस्त गुरु द्वारा ही हो। यह गुरु माता पिताका धर्म प्रतिनिधि होता है और बच्चेके कृत्योंका वह एक सीमातक परमात्मा और समाज दोनोंके सामने दायी है। पर याद रहे कि पिता Principal प्रमुख्य है और गुरू उसका नियत Agent कर्ता या अन्तर्य है। बहुतसे दायित्व ऐसे हैं जो पिता ही पर उतरे हैं गुरु पर नहीं।—बच्चेके चलन व्यवहार, स्वभाव, आचार, विचार,

भान, ढलान पर विचार करना उसके अनुकूल शिक्षा देने दिलानेकी चेष्टा करना यह सब पिताके काम हैं, गुरुके नहीं—गुरू तो स्वयं पिताके नियुक्त करनेसे उसकी ओरसे कार्य्य कर्ता होता है ।

(९) यह पितरोंका काम है कि सर्वथा यथाशक्ति यत्नवान होकर अपने बच्चोंमें अभिमान, हठ, दुर्भाव, ईर्षा, मत्सर, लोभ निर्दयता, क्रोध, मिथ्या, वाद, बदला, प्रभृति अनेक दोषोंको न आने दें। जो कोई दोष उत्पन्न हो भी जाय तो बड़े यत्नसे उसको निकालकर समूल फेंक देनेकी चेष्टा करें। लड़केको न सुधारना लाड नहीं है वरन बेदर्दीकी मार है जिसकी चोट सारी उमर बच्चे के कलेजेपर यहां कसकेगी, अन्तमें वहां भी उसे सुखकी आशा न रहेगी ।

(१०) बिना उदाहरण दिखलाये सूत्र शिक्षा व्यर्थ है, ऐसे ही बिना स्वयं आदर्श बने कोई अपने बच्चोंको यथावत नीतिज्ञ मनवाणी और कर्मसे नहीं बना सकता अतः माता पिताका धर्म है कि स्वयं मनवाणी और कर्मसे नीति पथ गामी रहकर बच्चोंके आदर्श हों जिसमें बच्चों पर उनकी शिक्षा तुरन्त प्रभाव डाले। चोर, डाकू, बदमाश, लबार, लम्पट, जुआड़ी और नशेबाज लोगोंके लड़के शायद ही कभी अच्छे होते हैं। शिक्षाकी असावधानतासे भलोंके बुरे तो निस्सन्देह बहुत हो जाते हैं पर बुरोंके भले कम होते हैं।

(११) माता पिता ईश्वर भक्त होकर बच्चोंके भलेकी प्रार्थना करें और स्नान ध्यान, प्रार्थना उपासना, सन्ध्या अग्निहोत्रादि बच्चोंको साथ लेकर नित्य किया करें। पिता माता जहां स्वयं फैशनके गुलाम, लालचके चेरे हों, लड़केके चलन, संगतकी निगरानी न करें वहां भलाई कठिन ही है ।

अब देखना है कि पितरोंके दायित्व तो इतने हैं पर उनके स्वत्व क्या हैं, क्योंकि कोई स्वत्व बिना दायित्व और कोई दायित्व स्वत्व रहित इस संसारमें परमात्माने नहीं बनाया।

(१) लड़केकी योग्यतानुसार अपने कर्तव्यमें बराबर सहायता ले। पर नितान्त बालकके साथ तो पिताका पूरा अधिकार है कि उसकी इच्छाओंका कुछ भी ध्यान न करे अपनी बुद्धिके अनुसार उसके लिये मङ्गलकी कामना रखते हुए वर्ताव करे। जब कुछ बड़ा हो तो उसके समझके अनुसार स्वतन्त्रता दे और उसके सम्भोगों और इच्छाओंका लिहाज करे।

(२) जब बच्चे जवान होकर अपने कृत्यके आप दायी हो जाते हैं तब पिता माता पन्द्रह आना दायित्वसे छूट जाते हैं पर एक आना शुभ शिक्षाके दायित्वका भार आजन्म बना रहता है। लड़का धर्म शास्त्रानुकूल २५ व लड़की १६ में युवा होती है और पाप पुण्यके दायित्वके लिये लड़का १४ वर्ष लड़की १० वर्षमें आयुक्त होते हैं। वर्त्तमान न्याय धारामें साम्पत्तिक विषयोंके लिये लड़का २१ व १८ और लड़की १८ व १४ में युवा मानी जाती हैं किन्तु फौजदारी विभागमें जब उनको अपने भले बुरेका ज्ञान अच्छी तरह भान होने लगे वे अपने कृत्यके आप दायी हैं नहीं तो उनके माता पिता।

ज्यों ज्यों बच्चा बड़ा होता जाय पितर उसकी यथा योग्य घरके कामोंमें सम्मतियां लेते रहें। इसी पर एक नीतिकार कहता है।

'प्राप्ते तु षोड़शे वर्षे पुत्र मित्र समाचरेत्'।

जो सन्ततिके दायित्व हैं वही पितरोंके स्वत्व हैं और जो पितरोंके दायित्व हैं वह सन्ततिके स्वत्व हैं। दोनोंमें अन्योन्य सम्बन्ध है।

मण्डल दूसरा।

अनुवाक ४

सन्ततिके पैतृक दायित्व वा कर्तव्य

हम इस अनुवाकमें बच्चोंके कर्त्तव्य, उनके स्वत्व और दायित्वका कथन करेंगे।

(१) बच्चोंको अपने पितरों और गुरुजनोंका आज्ञानुवर्ती होना चाहिये, क्योंकि ईश्वरीय इच्छा यही है जैसा कि धर्म ग्रन्थोंके साथ साथ प्राकृतगठन भी हमें साक्षी दे रहा है।

इसमें अतिरेचनके स्थल यह हैं।

अन्तरात्मा घात न करें। अर्थात पितरोंके कहनेसे वह काम जो हम प्रत्यक्ष वेद विरुद्ध विश्वास करते हैं न करें; जैसे, हत्या, जुवा चोरी। परमात्माकी आज्ञा माता पिता गुरु राजा सबकी आज्ञासे ऊपर और प्रधान है। कोई बालक प्रश्न करे कि क्यों पितरोंकी आज्ञा मानना धर्म है तो उत्तर सरल और सीधा यह है कि घरका सारा गठन खन्ड खन्ड होजाय जो बच्चे आज्ञानुवर्ती न हों। ईश्वर और हमारा गठन दोनों चाहते हैं कि हम पितरोंकी बुद्धि, विद्या और उनके अनुभवसे लाभ उठावें। और पितरोंके उस निस्स्वार्थ स्वच्छ प्रेमका जो वह हमारे ही हितके वास्ते रखते हैं आनन्द भोग करें और उनको यथावत अपने भलेके लिये काम करने दें। परन्तु यह बिना आज्ञानुवर्ती होनेके हो नहीं सकता।

वेद भगवान आज्ञा देते हैं। मातृ वान पितृ वान आचार्य्य वान् पुरुषो वेद। माता पिता गुरु तीन उत्तम शिक्षक हों तब ही मनुष्य ज्ञानवान होता है (यह शतपथ ब्राह्मणका

वचन है)। पुनः तैत्तिरीय० प्र० ७ अनु० ११ कं० २ में है—मातृ देवो भव, पितृ देवो भव अचार्य्य देवो भव। (मुसलमान कबि शेख सादी कहता है-आंकुन कि रिजाय मादरां नस्त— फिरदौश जेरे कफे पाय मादरां नस्त। अर्थ

वह कर जो हमारी (ईश्वर कहता है) मरजी है।
वैकुण्ठ माता पिताके पैरोंके तले है॥

बाईविल सरिस पुस्तकोंमें भी हमें ईफेसियन अध्याय ४ छन्द १ में मिलता है Children obey your parents in the Lord बच्चों अपने पितरों की आज्ञाओंको, परमात्माकी आज्ञा भङ्ग न करती हों, तो मानो। माता पिताकी आज्ञाओंके पालनका उपदेश हमें मूर्खतम जातियोंमें भी मिलता है। हमने बहुतसे प्रमाणोंसे ग्रन्थको भरना उचित नहीं समझा। हमारे पाठक चाहें तो इसके प्रमाण हर किसी धर्म्म ग्रन्थमें ढूंढ सकते हैं।

पितरोंकी सेवा, आज्ञापालन, और उनकी नीचसे नची टहल हमें दोनों लोकोंके सुखोंसे सम्पन्न करनेवाली है। जो इससे घृणा करता है, जो इसे गुलामी समझता है, जो इसमें अपनी हेटी मानता है वह कमीना इस योग्य नहीं कि मनुष्य समाजमें बैठने दिया जाय। वैदिक आज्ञाके विरुद्ध हम उनकी आज्ञाको पालन करनेके लिये बाध्य नहीं तो भी हम उनकी अवज्ञा नहीं कर सकते, हम उनकी आज्ञा उल्लंघन करनेके कारण नम्रता पूर्वक प्रेम परिपूर्ण शब्दोंमें नीची दृष्टिसे निवेदन करके चुप रह जांय, यदि वे इस कारण हमें अनुचित दण्ड दें तो हम अनुसूयासे सहन कर लें।

पितृ-सेवा मनुष्य शरीरका एक अमोल आभूषण है। क्यों महामान्य चिरस्मरणीय महात्मा रामचन्द्र, श्रवण, गोपीचन्द

और ध्रु आदि लोग आज पर्य्यन्त हमारे देशके गौरवके कारण माने जाते हैं? केवल पितृ भक्तिसे। प्रह्लादको कितना ही दण्ड उनके पिताने दिया पर वह ईश्वरी आज्ञाके प्रतिकूल न चले किन्तु पितासे एक भी कठोर बात नहीं कही जो उत्तर दिया मीठा, श्रेयस्कर, नम्रता और पितृ भक्तिसे भरा हुआ ही उत्तर दिया। यह बातें अनार्य्य जातियोंमें इतनी नहीं मिल सकतीं, हमारा काम है कि हम उन्हें सुधारें और सिखलावें।

हम प्रत्यक्ष देखते हैं जो माता पिताके आज्ञानुवर्ती नहीं होते उनपर ईश्वरका महान कोप होता है और तद्विरुद्ध पितृ भक्तोंको सब तरह मंगल ही मंगल होते रहते हैं। प्रमाण यह है कि जितने पितरोंके अनाज्ञाकारी लोग मिलेंगे सब दुरा-चारी, दुखी और अशान्त मिलेंगे—यही ईश्वरीय दण्ड है। हमने निज अनुभवमें एक भी आदमी ऐसा नहीं पाया जो पिताका अनाज्ञाकारी होकर सुखी हो, सदाचारी हो, मान-सिक और कायिक व्यथासे अति पीड़ित न हो।

अतः बच्चोंको पितरोंकी प्रतिष्ठा कभी न छोड़नी चाहिये यह प्रतिष्ठा सच्ची हो, यह प्रतिष्ठा भक्ति युक्त हो, दिखावटी नहीं। हमने अपनी उर्दू पुस्तक 'इसमे आजम'में अनेक नैतिक शिक्षा-ओंके साथ इस पर भी कुछ लिखा है जो महाशय चाहे ढूंढ कर पढ़ सकते हैं। पिताकी प्रतिष्ठा पिता होनेके कारण है— वह हमारे गुरु, जनक, हितचिन्तक, प्राण रक्षक हैं, यदि वह विद्वान्, पंडित, धनी, पूज्य, प्रतिष्ठित और प्रतापशाली हैं बहुत अच्छी बात है, पर इन बातोंके कारण न हमारी स्वभा-विक प्रतिष्ठा और हमारा हार्दिक प्रेम उनमें बढ़ सकता है न इनके विपरीत बातोंके होनेसे घट सकता है। बढ़नेको तो

जगह ही नहीं और यदि बढ़नेकी जगह है तो वह कमीना प्राणी पहले अपने पितरोंका पूरा भक्त न था जो घटनेकी जगह है तो भी वह पितृ भक्त नहीं। वाह्य कारण वाहरवालोंके वास्ते हैं कि हम इन बातोंको देखकर किसी की प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठा करते हैं क्योंकि बाहरी काम प्रेम नहीं सांसारिक ढोंग हैं पर पितरों और सन्ततिका यह सम्बन्ध ऐसा नहीं। पितृ और मातृ शब्दों पर विचार करनेसे ही हमें निश्चय हो जाता है कि हम उनके यावज्जीवनके ऋणी हैं, इस ऋणसे हमें सिवा उनके आशीर्वादके और कोई मुक्त नहीं कर सकता।

जो सन्तान वृद्धावस्थामें पितरोंकी सेवा और उनका पालन पोषण प्राणवत नहीं करते उन पापियोंका मुख देखनेसे भी पाप होता है क्योंकि वे मनुष्य नहीं, जो युवा होते ही माता पिताको भूल जायं, वरन पशु हैं क्योंकि यह स्वभाव पशुओंमें ही हम प्रत्यक्ष देखते हैं। हमें माता पिताके दोषोंसे कुछ मतलब नहीं हमारा धर्म उनकी सेवा है जिसका कारण एक मात्र यही है कि वह हमारे जनक जननी हैं।

जब सन्ततिका स्वत्व और पिताका दायित्व है कि सन्तान सुखसे रहे पिता पूर्ण प्रेमसे कष्ट सहकर उनकी सेवाकरे तो क्या उस सन्ततिका यह दायित्व नहीं कि युवाहोकर उनकी सुध ले आप कष्ट सहकर प्रेम प्रतिष्ठा पूर्वक उनकी सेवा व पालन पोषण करे, हम समझते हैं उनका स्वत्व यत्किञ्चित भी कम नहीं। वह तो अपने कृत्यसे दायी होते हैं हम उनके परोपकारके ऋणी और दायी होते हैं। जो धन होते अपने ऋणको नहीं चुकाता वह अन्यायी और बेईमान है तो वह सन्तान जो शरीर चलते पितृ सेवा नहीं करता या आप रोटी

खाता है कपड़ा पहनता है पर पितरोंकी सुध नहीं लेता वह असंख्य बेइमान, दगाबाज और दुष्टोंका गुरु, बेईमान दगाबाज और दुष्टराज है ।

ईसायोंकी अद्वितीय धार्म्मिक बुद्धि और अनुपम मतमें नीतिकार कहते हैं कि 'लड़का युवा हुआ और पिताकी आज्ञा पालनके भारसे मुक्त होगया इत्यादि'—इन इन कुशिक्षाओंको खन्डन करनेके लिये भी उद्धृत करके अपने पवित्र लेखको पाश्चात्य धर्म्मज्ञानकी कालषसे कलंकित करना पसन्द नहीं करते ।

अन्तरात्माएं अवश्य भिन्न हैं और अनेक नैतिक स्थितियां हैं पर एक मात्र बात कि पितरोंकी अवैदिक शिक्षा माननीय नहीं हमारे समझमें ऐसी है जो अटल सार्वभौम्य नियममें अतिरेचन हो सकती है और कुछ नहीं ।

मण्डल तीसरा ।

मनुष्य सभ्य समाजी है ।

अनुवाक १

"समाज ।"

सभ्य समाज एक समस्त्य भाव है यदि इसका साधारण सरल रूप समझ लिया जाय तो ठीक हो अतः इस मण्डलको दो भागोंमें विभाजित किया जाता है । पहिलेमें तो साधारणतः सामाजिक गठनको कहेंगे, दूसरेमें सभ्य समाजका गठन बतलायेंगे ।

कोई समाज क्यों न हो किसी न किसी प्रकारके पारस्परिक शर्तों पर ही आधार रखता है । चाहे यह शर्त परा

चीनतम हों वा नवीन, चाहे लिपिबद्ध टीप हो या मौखिक प्रतिज्ञा वा मानसिक समझौता। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति शेष समाजके साथ कुछ स्वत्व और दायित्व विशेष स्थापन करता है। इसके वास्ते अन्तरात्माका विकशित होना अनिवार्य है नहीं तो समाजका प्रादुर्भाव ही नहो। क्योंकि न अपने नैतिक दायित्व और स्वत्वको आदमी पहचानेगा न परस्पर सामाजिक सम्बन्ध रख सकेगा। यदि अन्तरात्मा विना ही समाज संगठित हो सकती तो पशुओंमें भी मानवी समाज संगठन यथावत ही देखते। जङ्गलियोंमें भी हम सभ्य समाजें पाते। पर नहीं अन्तरात्माके प्रकाशानुसार ही उनमें उतनाही गठन है, जहां नितान्त अन्तरात्मा जड़ होती है वहां पूरा जड़त्व पाते हैं।

इस तरह गठित समाजमें केवल उन शर्तोंका लिहाज होता है जिनके पूरी करनेको सबने मिलकर प्रतिज्ञाकी होती है या टीप लिखी होती है। यदि कुछ विशेष व्यक्तियां मिलकर एक विशेष समाज गठनकरें और अनेक असाधारण पारस्परिक स्वत्व दायित्व प्रतिबन्धात्मक नियम बनालें तो वह एक विशेष समाज होगी। जैसा पहलेसे गोत्रों, सम्प्रदायों, समाजोंके रूपमें होता आता है जो आज कल भी हम देखते हैं। इसके द्वारा एक गठनको सम्मिलित व्यक्तियां अपने ऊपर विशेष विशेष स्वत्वोंका सुख और दायित्वोंका भार व कष्ट उठाते हैं। जो नया सम्मिलित होता है उसे वही बातें माननी पड़ती हैं।

समाजोंमें नैतिक करणीयोंका विचार मुख्य कमानी होती है यदि पारस्परिक कर्त्तव्योंका पालन नहीं होता तो वह समाज भङ्ग होजाता है, क्योंकि किसीको न किसी स्वत्वकी

प्राप्तिका भरोसा रहता है न किसी दायित्वके पूरा करनेकी चिन्ता होती है। यह एक प्रकारके साझेकी खेती है जो सब साझी अपनी २ करणीयोंको नीति धर्म्मानुकूल निर्वाहें तो साझा निभता है नहीं तो टूट जाता है। यह नहीं होता कि एक साझी तो सोया करै दूसरा रातभर पहरा दे। जो पड़ोसी हमारे घरकी आग बुझानेको नहीं आ सकते उनके घरोंमें जो आग लगै उसे बुझाने कौन जाय। इन्हीं शर्तों और सम्बन्धोंके अच्छीतरह जानने मानने व पालनेका नाम एकता है और यह एकता नीतिजन्य होती है। इसके विरुद्ध अपने कर्त्तव्योंके पालनमें दूसरेके सम्बन्धगत त्रुटि करना व कर्तव्यानुकूल चलनेसे विरक्त रहना द्वेष करना है, अनीति है। इन्हीं बन्धनोंके ढीले पड़नेसे आज भारत लाखका राख होता दीखता है इन्हीं बन्धनोंकी दृढ़तासे जङ्गली सभ्य बने रहते हैं व बन गए। जो सामाजिक बन्धनोंको नहीं मानता या तोड़ता है वह उस समाजका अङ्ग नहीं।

एक समाजका प्रति व्यक्ति एक ही प्रतिबन्धोंको (शरतोंको) स्वीकार करता है अर्थात हरेक जन समाजका एक समान दायी होता है और समाज हरेकके प्रति एक सा दायी होता है सब लोग परस्पर एक समाजके व्यक्ति होते हैं, एक सम्प्रदायी या एक कुटुम्बी होते हैं, एक समान भाई होते हैं। सगे भाईको नय विरुद्ध होनेसे त्याग देते हैं पर समाजको एकके निमित्त नहीं छोड़ते। जिन नियम समूहोंके बन्धनमें अनेक व्यक्ति बंधते हैं वही उस समाजका संगठन कहलाता है। इन नियमों द्वारा समाजके उद्देश प्रकट होते हैं यह ज्ञात होता है कि समाजका उद्देश किस रीतिसे पूरा किया जाय। जैसे सट्टे, टीप, प्रतिज्ञाएं दो व्यक्तियोंके बीचकी वैसी ही

अनेकोंके बीचकी। समाजके शरीर विस्तारमें भेद है किन्तु सिद्धान्तमें नहीं। अलबत यह सम्मिलन इच्छा पूर्वक होता है प्रत्येकको पृथक होनेका अधिकार रहता है।

समाजोंके नियमोंमें व्यक्तियोंको असुविधा होनी सम्भव हैं अतः अनुभवके अनुकूल नियम परिवर्तन भी हो सकते हैं इसीका नाम सुधार या संशोधन है कि अमुक काम सुविधाके साथ कैसे किया जाय और फिर सब उसीके पालन करनेको बाध्य होते हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि समाज कैसे चलाया या शासित किया जाय? अतः समाजका शासन तीन रीति पर ही हो सकता है।

(१) सर्व सम्मतिसे (२) अधिक सम्मतिसे (३) अल्प सम्मतिसे।

सर्व सम्मतिकी सब बातोंमें आशा करना असम्भव है। मनुष्योंकी इच्छाएं, उनके स्वभाव, भाव और ढङ्ग इतने विभिन्न हैं कि सर्व सम्मति नहीं मिल सकती। और एक व्यक्तिक या अल्प सम्मतिसे काम करना अनीति है क्योंकि बहुतोंके स्वार्थ, इच्छा और ज्ञान अनुभवका थोड़ोंके निमित्त घात करना प्रत्यक्ष अनुचित है और इस दशामें समाज संगठनके मूल अभीष्टका ही नाश होजाता है। समाजके अधिक प्राणियोंके अधिक सुखसाधनके ही उद्देशसे तो समाजका गठन होता है, जो एक या थोड़ोंकी मरजीको प्रधानता देनी हो तो नियम और समाज बनानेका कष्ट उठाना ही व्यर्थ है। सर्व सम्मतिके आगे तो कोई अच्छी बात है हो नहीं—नहीं तो फिर बहु-सम्मति ही मान्य होनेसे सामाजिक सुखसाधन हो सकता है।

थोड़े लोगोंका अधिकांश प्रजासे अधिक देशका हित करनेवाला मानना ठीक नहीं है। अपने सार्वभौमिक हानि लाभको सब जानते हैं थोड़े लोगोंकी इच्छाके अनुकूल समस्त समाजके हानि लाभको मान करना व बहुतोंके कथनकी परवा न करना अनुचित और अन्याय है।

अधिकांशको समस्त प्रजाकी शक्ति प्राप्त है क्योंकि इस बातकी आवश्यकता सिद्ध हो चुकी है, पर उसे यह शक्ति समाजसे मिली है अतः उसे समाजके सिद्धान्त विरुद्ध या समाजप्रद शक्तिसे बाहर जाना न चाहिये, यदि जाता है तो अन्याय करता है। अर्थात व्यक्तियोंने जो अधिकार जिस समाजको दिये हैं उतने हीके भीतर अधिकांश अपनी शक्तिको काममें ला सकता है न कि उसका अतिक्रमण करके।

अधिकांश हो वा और कोई किसीको समाजके उद्देश्योंको परिवर्तित करनेका अधिकार नहीं है। यदि उद्देशोंका परिवर्तन हो तो दूसरा समाज गठित हो और वह व्यक्तियां जो इस नवीन गठनमें मिलना चाहती हों मिलें, जो न चाहें उनकी इच्छा। पर एक उद्देशके अनुकूल गठित समाजमें अधिकांशका उसके विरुद्ध या बाहर काम करना अधिकारातिक्रमण रूपी घोर अत्याचार है—कारण प्रत्यक्ष हैं।

कार्य्य प्रणाली भी वही होनी चाहिये जो कि व्यक्तियोंने मिलकर मानी व बनाई हो। क्योंकि व्यक्तियोंने अपनेको उन्हींका दायी किया है और तद्विरुद्ध किसी प्रणालीकी पाबन्दी उनपर अनिवार्य्य नहीं है न हो सकती है।

अधिकांशको यह भी अधिकार नहीं कि कोई ऐसा काम करें जो व्यक्तियोंके सदैवके पूरे सामाजिक समता सिद्धान्तको तोड़नेवाला हो। जब सबोंने अपनेको एक ही नियमके

अधिगत किया है तो उनमें भेदभाव होना संयोगके मौलिक सिद्धान्तके बिल्कुल विरुद्ध है। अतः गठनके स्वाभावानुसार स्वयं सिद्ध है कि जबतक अधिकांश उस समाज प्रदत्त अधिकारकी सीमाके भीतर काम करें तो व्यक्तियोंको उनकी व्यवस्था शिरोधार्य्य करनी पड़ेगी क्योंकि उसने अपनी इच्छासे इस कर्त्तव्यको अपने ऊपर लिया है और वह बाध्य है कि उसे पूरा करे, अर्थात् समाज भी प्रतिज्ञाओंके अनुकूल भाव, प्रणाली और अभीष्टको मन, वाणी, कर्मसे व्यक्तियोंके प्रति वर्त्ते और व्यक्तियां भी इसी तरह समाजके प्रति वर्त्तें। यह आवश्यकता अथवा बन्दिश केवल दिखावटी मर्य्यादार्थ नहीं वरन् यह एक नैतिक कर्त्तव्य भार है जो अपनी ही इच्छासे अपने ऊपर लिया गया है। और किसी दूसरे कर्त्तव्यकी अपेक्षा इसका पालन कम नहीं है—बराबर है। जो अधिक कर्त्तव्य पालन न करें तो अल्प उन्हें छोड़ अलग हो जायंगे जो अल्प या व्यक्ति ऐसा करे तो वह अलग कर दी जायगी।

यदि हमारा उक्त विचार ठीक है तो हम समझते हैं कि इससे गठित समाजके स्थैर्य्यके प्रश्नके ऊपर कुछ प्रकाश पड़ सकता है क्योंकिः—

एक संयोग (Corporation or Consolidation) का नाम समाज है जो कि उन विशेष अभिप्रायोंसे नियोजित होता है जो कि एक प्रणाली विशेष द्वारा सिद्ध किये जाते हैं। जो इनमें योग देता है, इस प्रतिप्रबन्धके साथ उसमें योग देता है। समाजकी पूर्ण शक्ति यही है कि इस रीतिसे इन उद्देश्योंकी सिद्ध की जावे। यदि एक वा अनेक कोई इससे भिन्न काम करे तो उस कामके करनेके समय वह या वे उस समाजके सभ्य नहीं किन्तु और ही व्यक्ति हैं। और जो व्यक्ति,

अल्पांश, अधिकांश वा पूर्ण समाज कोई क्यों न हो ठीक निर्णीत रीतिसे व्यवस्थित उद्देश्य सिद्धिके निमित्त जो काम करता है या करते हैं समाज हैं और दूसरे नहीं । समष्टि बन्धनका नियम इन्हीं सिद्धान्तोंपर काम करता है। इस भांति अयुक्त व्यक्तिगण एक नैतिक अधिकारयुत गोष्टि है (body public) और न्यायको इसे मानना पड़ता है पर न्याय ऐसे गठनोंमें हस्ताक्षेप नहीं करता ।

अब कल्पना करो कि सबने अपने विचार वा भाव (sentiment or opinion) बदल दिये तब तो समाजको निस्सन्देह टूटी हुई ही कहा जायगा। वे दूसरी गोष्टि बना सकते हैं पर जब तक वे दूसरी गोष्टि न बनायें वे दूसरे नहीं समझे जायंगे। जो कोई सम्पत्ति उस गोष्टिमें हो गई है तो वह लोग अबतक उसी मार्गपर उस उद्देश्यकी पूर्त्तिकी चेष्टा करते जा रहे हैं वे उसके मालिक होंगे और वही समाज है दूसरे अलग हो गये। सम्पत्ति पर तो अधिकार उन्हींका होगा जो उस सिद्धान्तपर अटल रहेंगे चाहे थोड़े ही क्यों न रहे हों और बहुतसे निकल गये हों। जो सब ही खण्ड खण्ड हो गये तो धर्म्मशास्त्रानुकूल सम्पत्ति उनके उत्तराधिकारियोंको मिलेगी अथवा वह सम्पत्ति सर्वसाधारण बृहत मनुष्य समाजकी होगी। उसी मानसे दूसरे उद्देश्योंको स्थापित करके हम उसके भागी दार नहीं हो सकते, इस दशामें हमारा व दूसरे ग्राम निवासियोंका समान ही अधिकार होगा।

न्यायधारा विधायकोंको भी अधिकार नहीं कि जो चाहें वही नियम बना मारें जिसे चाहें उसे हकदार बना दें। ऐसा दुष्ट चलन घोर आक्षेपके योग्य होता है। क्योंकि ऐसी कोई अनुमति समाजकी ओरसे न्याय विधायक समितिको नहीं

दी होती फिर जो वे स्वाधिकारका उल्लंघन करके कोई न्याय बनायें तो वह व्यर्थ और रद्दी है मान्य नहीं हो सकता।

वर्त्तमान शताब्दिकी मानवी समाजकी स्थितिके अनुकूल हमें इस मण्डलको ध्यानसे पढ़ना व विचारना होगा। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि अनेक समाजें मन्तव्य विशेषसे मनुष्य गठन किया करते हैं और जो कोई उसमें भाग लेता है एक उद्देश्य विशेष दृष्टिमें रखकर भाग लेता है। स्वयं समाज विशेष भी एक, उद्देश्य विशेषसे ही है। ऐसे समाजोंके गठनमें उद्देश्य और कार्य्य प्रणाली स्पष्ट खोल देनी चाहियें जहां ऐसा नहीं होता मौलिक सिद्धान्तोंके भङ्ग होनेसे समाज खिंड जाता है। और जो लगातार ऐसा ही हो तो समाजोंका विश्वास चला जाता है और उनके गठनकी प्रणाली नष्ट, भ्रष्ट और शिथिल होकर मनुष्योंको हानि होती है। बहुतसे काम बिना ऐसे संगठनोंके हो ही नहीं सकते।

अनुवाक २

"सभ्य समाज।"

इस बातके समझनेको कि सभ्य समाज क्या है? उसके कर्त्तव्य-विभाग क्या हैं व कैसे हैं? हमें एकबार राज्य व शासन शक्तिको साधारण समाज वा प्रजासे पृथक् करके ध्यानमें लेना होगा। समाज बिना शासन शक्तिके स्थिर रह सकती है और पहिले थी भी। आर्य्यवर्त्तमें ऐसा ही था। कोई राजा विशेष न था प्रजा समूह अपने प्रबन्ध स्थान स्थानपर आप ही कर लेता था। योग्य विद्वान् ऋषिगण राजा व मन्त्रीकी भांति धारायें व नियम बनाकर निस्स्वार्थ प्रजाकी सहायता करते थे। राज्यमात्र एक प्रजाके हाथका यन्त्र है जिसके द्वारा

समाज अपना अभीष्ट सिद्ध करता है। राज्य एक अन्तर्थ्य है प्रजा प्रमुख्य है। प्रजा मालिक है राजा उसका सेवक है। प्रजा प्रधान राजा उसकी आज्ञा अनुकूल प्रबन्ध करनेवाला आमात्य है। राजाका प्रादुर्भाव मानवी दुष्टतासे हुआ है।

सभ्य समाज ईश्वरीय संस्था है अर्थात् ईश्वरकी ही इच्छा है कि, मनुष्य समाजबद्ध होकर रहें नहीं तो 'संगच्छद्ध्वम् संवद्ध्वम्' आदि उपदेश हमें वेदोंमें न मिलते। यह बात और भी दो तरहपर सिद्ध होती है एक तो मानवी मौलिक सम्वेगोंसे, दूसरे स्थिति जन्य मानवी आवश्यकताओंसे। वास्तवमें दोनोंका, महीन जांच करनेसे, एक हीमें समावेश हो जाता है जो हमने ऊपर कहा कि हमारी स्वाभाविक दुष्टता और उसके शमनकी आवश्यकता राजके प्रादुर्भावके मूल कारण हैं।

१—मानवी मौलिक सम्वेग।

(क) हमारे स्वभावका महत्तम दृढ़ और सार्वभौमिक सम्वेग एक तो समाजकी साधारण प्रीति है। वह बाल कालसे ही पैदा होकर मरणपर्य्यन्त ज्योंकी त्यों बनी रहती है। यह बात प्रत्येक मनुष्य स्वयं विचारकर देख सकता है। मनुष्यको नितान्त एकाकी रहना एक प्रकार दण्ड है जो कि असह्य होता है। एकाकी कारागारवास कठोर दण्ड समझा जाता है। तब क्यों न समझें कि समाज ईश्वरीय नियमानुकूल हमारे सम्वेगके अनुसार हमें दरकार होता है और स्वभावसे ही प्रिय है। इस सार्वभौमिक सम्वेगका फल दूसरी इच्छाओंको इसतरह चलाता है कि जिससे समाजके प्रतिकूल न हो। इसीके लिये अपने सुखका अवलम्ब मानकर तुरन्त हर जगह हर अवस्थामें मनुष्य समाजबद्ध होनेको दौड़ता है। भाई बहिन,

माँ बेटे, बाप बेटी परस्पर विवाह करना स्वभावसे बुरा और पाशविक कृत्य मानते हैं। क्या इन सब बातोंसे स्रष्टाकी इच्छा प्रकट नहीं होती?

(ख) मनुष्योंके अन्य प्रेम भाव भी यही बतला रहे हैं। स्त्री पुरुषके प्रेम संयोग ही एक समाजकी सृष्टिका मूल अंकुर है। उसके पीछे पैतृक प्रेम, जाति प्रेम और सर्वोपरि देश प्रेम। एक स्वभावके लोगोंमें प्रीतिका होना, मित्रताकी सीमाको पहुंचता है। पारस्परिक सहानुभूतिकी चरम सीमा का अनुभव हमें समाजसे ही तो होता है। नेकी, सहायता, प्रशंसा, उत्तेजना और सम्मति देना क्या है। इस स्वाभाविक संमझके झुकावके दो कारण हैं.एक तो समाजसे हमें उक्त मन भावनी इच्छाएं मिलती है इसीसे हम उसके आधीन रहते हैं और उसके प्रतिकूल अपनी इच्छाओंको दबाते हैं। दूसरे जैसा हम कह चुके हैं यह प्रीतिके स्वभावमें ही है कि हम निज सुख और वासनाओंको दूसरेके सुख व वासनाओंके लिये जिन्हें हम प्यार करते हैं दबायें वा त्यागें। मनुष्य और पशुमें भेद करनेके लिये यह सम्वेग जो स्रष्टाने बनाये हैं इसमें उसकी भूल हम नहीं पकड़ सकते क्योंकि हमें उसकी भूल पकड़नेका रास्ता ही इस प्रत्यक्ष बातमें नहीं मिलता।

(२) यही बात हमें-हमारी सत्ताकी स्थिति द्वारा हम पर जो जरूरतें पड़ती हैं वे भी बतलाती हैं।

(क) जो समाज न होता हम नष्ट भ्रष्ट हो जाते, पशुके समान स्वेच्छाचारी होते अतः सामाजिक प्रबन्ध ही मनुष्यत्व है।

(ख) मानवी सृष्टिने जो उन्नति की है न होती; यदि बिना समझे गठन उन्नति सम्भव होती तो पशुओंमें भी हमारी सी ही उन्नति आज दीख पड़ती।

समाजमें बिना कार्य्यविभाग, प्राकृतिक कारिकाओंका ज्ञान उनका प्रयोग, सम्पत्ति और स्वत्वभाव, पूंजी पसार कुछ भी न होता। पुनः कई बातें और भी विचारणीय हैं :—

(१) सभ्य मानवी समाज और साधारण इच्छासे गठित समिति या समाजमें बड़ा महत्त्वपूर्ण अन्तर दीख रहा है। साधारण समाजमें जो इच्छासे गठित होती है प्रतिज्ञाएं मानी हुई होती हैं और यह समाज अङ्ग प्रतिज्ञा करनेवाले चाहें तोड़दें अथवा जो दूसरापक्ष टीप प्रतिवन्ध पूरा न करे तो हम भी उसके पूरे करनेको बाध्य नहीं हो सकते। पर सभ्य समाज ईश्वरेच्छानुसार सङ्गठित हुई है और हमें कर्त्तव्य विशेषमें बांधती है जो हम तोड़ें तो हमारी ही सत्ताके स्थैर्यको भय है। इसमें हम मनुष्य और स्रष्टा दोनोंके प्रति दायी हैं, साधारण समाजकी भांति मनुष्यमात्रके ही दायी नहीं। जो दम्पति परस्पर पालनपोषण सहाय्य न करें। पिता पुत्रको न पाले, चार आदमी मिलकर घर न बनावें तो हमलोगोंका अस्तित्व ही कहां हो? यह सम्बन्ध ऐसे हैं कि जो एक पक्ष भूल भी करे तो दूसरा वैसा ही नहीं कर सकता। क्योंकि वह ईश्वरके सामने भी उत्तरदाता है।

(२) यह सभ्य समाज मानवी नियमानुकूल नहीं वरन् ईश्वरी नियमानुकूल वेद भगवानकी आज्ञानुसार बना है। इस ईश्वरीय गठनमें मानवी हस्ताक्षेपको न जगह है न यह उचित ही है। जहां वेद भगवानकी आज्ञाओंका समाजने उल्लङ्घन किया कि वह स्वयं नष्ट हुआ।

वेदोंकी सामाज सम्बन्धिनी शिक्षा और अनेक जातियोंके इतिहास देखनेसे हमें प्रत्यक्ष होता है कि ईश्वरकृत सामाजिक

नियमोंके भङ्ग करनेके कारण किस तरह जातियां नष्ट भ्रष्ट होती हैं ।

(३) जो समाज ईश्वरीय नियमानुकूल स्थापित सिद्ध होती हो तो प्रत्येक मनुष्य जो ईश्वर प्रणीत सामाजिक नियमोंका पालन करे उसमें सम्मिलित होनेका अधिकारी है । क्योंकि यदि सभ्य मानवी समाज गठनमें मनुष्य ईश्वरीय नियमोंके पालन करनेको बाध्य हैं और परमात्माकी इच्छा व आज्ञानुकूल चलना चाहते हैं तो उन्हें कोई अधिकार इस बातका नहीं है कि वह इसे उन सिद्धान्तोंपर बनावें कि जिससे कोई भी मनुष्य जो अपने निर्मांताके सामाजिक नियमोंके पालन करनेको राजी हो वहिष्कृत हो । अतः कोई भी मनुष्य न्यायपूर्वक समाजसे वहिष्कृत नहीं हो सकता जबतक वह कोई उद्दण्डताका खुलमखुला ऐसा काम न करे कि जिससे उसका अधिकार अपहरित हो जाय । उसका मौलिक स्वत्व तो मान ही लिया जायगा किन्तु इस स्वत्वके अपहरणीयता का प्रमाण उनको देना होगा जो उसे वहिष्कृत करते हों । यह कहना यथेष्ट नहीं हो सकता कि कोई मनुष्य जो समाज को नहीं चाहता दूसरे समाजमें चलाजाय । जबतक कोई ईश्वरीय नियम भङ्ग न करे सिवा अन्यायके और किसी तरह वह समाजसे पृथक नहीं किया जासकता क्योंकि उसका समाजमें रहनेका मौलिक अधिकार है । अतः किसी प्रकारकी धारा जो किसी मनुष्यको समाजसे पृथक होनेको बाध्य करती हों (कारागार, निर्वासन वा प्राण दण्ड, देश निकाला) अन्याय युक्त हैं यावत यह सिद्ध न कर दिया जाय कि उस मनुष्यने अमुक कृत्य ऐसा किया जो ईश्वरीय सामाजिक

नियमके विरुद्ध है और उसके वहिष्कृत न होनेसे ईश्वरीय प्रजामें दुखोंकी वृद्धि होनी निश्चय है।

(४) समाज ईश्वर प्रणीत नियम है अतः हम अनुमान कर सकते हैं कि वह इसको रक्षित रखना चाहता है अतः जो व्यक्ति ऐसे अपराध करे जिससे समाजके विनाशका कारण हो तो समाजको अधिकार होगा कि वह ऐसे उपाय हाथमें ले कि जिससे समाज सुरक्षित रहे और समाज विनाशक अपराध न होने पावें। यही कारण है जो समाजको अधिकार है कि अपराधियोंको दण्ड दे और उनकी ताड़ना करता रहे जिससे ईश्वरीय टीपके नियमोंका यथावत पालन हो। इसी निमित्त समाज एक उपयुक्त राज्यस्थापन करती है कि यह ईश्वरीय सभ्य सामाजिक संस्था क्षेम कुशल पूर्वक स्थिर बनी रहे।

(२) पुनः टीपका मौलिक तत्व व सीमा जो व्यक्ति और समष्टिमें पारस्परिक प्रतिबन्ध और प्रतिज्ञाकी द्योतक है क्या हैं? इसपर भी थोड़ा विचार करना आवश्यक है।

(क) उक्त ईश्वरीय सामाजिक पारस्परिकत्व नियमानुकूल, गठन ही कारण है जिससे समस्त गुप्त समितियोंका असमाजिक झुकाव देखा जाता है। इनका उद्देश्य चाहे प्रकाशमें हो ऐसा हो या वास्तविक हो, कि ईश्वरीय सभ्य समाजके प्रतिकूल अपने गोष्ठिके सदस्योंको बचाया जाय। इस स्थितिमें जब कि एक व्यक्ति सभ्य समाजके लाभोंको दूसरोंकी भांति उठाता है और यह चाहता है कि समाज या अन्य लोग तो ईश्वरीय समाजिक प्रतिज्ञाका उसके-प्रति पालन करें और आप अपनी बार दूर भागता है और समाजके नियमाधिगत नहीं रहता तभी ऐसा करता है, नहीं तो गुप्त गोष्टियोंकी क्या आवश्यकता है। दूसरोंको अपना रक्षक बनाये रहना और

आप उनका भक्षक बनना यही काम गुप्त गोष्ठियोंका प्रायः होता है जो अधर्म है।

(ख) हमारा धर्म है कि ऐसी गुप्त गोष्ठियोंका भण्डा फोड़ करें क्योंकि यह मनुष्य समाजमें अशान्ति प्रसारक होती है। इनकी छोटीसे छोटी बातको भी न छोड़ें नहीं तो इनका बढ़ना और बल पकड़ना समाजके विनाशका कारण होगा।

(ग) समाज और उसके व्यक्ति केवल यहां ही तक प्रतिज्ञाके बन्धनमें होते हैं कि समाजके भंग करने वाले कारणोंको उपस्थित न होने दें, सिवा इसके सब स्वतन्त्र आदिम दशामें होते हैं। इनके शरीर, बुद्धि और अन्तरात्माका स्वातन्त्र्य ज्यों का त्यों अछूता बना रहता है।

सिवा इस समाज जीवन रक्षाके शासन व्ययके और किसी तरहपर किसी व्यक्तिकी सम्पत्तिपर कोई दायित्व नहीं पड़ता। जबतक कोई व्यक्ति पारस्परिकत्वके नियमोंको निबाहे जावे समाज कोई इसपर दूसरा भार नहीं डाल सकता, हां इन नियमोंके बन्धनमें दूसरोंको भी जो फिरण्ट हों लानेके लिये सहायता दरकार होतो दूसरी बात है। इस सामाजिक प्रबन्धमें लाभ के सिवा किसी तरहकी किसी पक्षको हानि होना सम्भव ही नहीं हो सकता।

एक बात बहुत विचारनेकी यह है कि सभ्य स्वातन्त्र्य राजकीय शासन पद्धतिकी बनावटसे इतना सम्बन्ध नहीं रखता जितना व्यक्ति और समाजके दायित्वों और परिमितियोंसे, जो दायित्वों और उनके परस्पर परमितियोंका ठीक प्रबन्ध हो तो अन्याय नहीं हो सकता। चाहे शासनकी बनावट कैसी ही क्यों न हो अर्थात चाहे शासन व्यक्तिगत हो, राज्य परिषद गत हो, प्रजा प्रतिनिधि गत हो, लोक साधारण गत हो

अथवा और किसी तरह हो। परन्तु उक्त प्रबन्ध अनेक दशामें (जैसे व्यक्तिक राज्य, धनिक शासनमें) यथेष्ट होना सम्भव नहीं, क्योंकि मनुष्य मनुष्य ही है उसकी स्वार्थ बुद्धि बहुधा उसे भटका ही देती है। तो भी अधिकांश सम्मतिके आधीन शासन होना, प्रशस्त ही देखा व माना गया है क्योंकि हमें आपेक्षिक विचार करना पड़ता है; जैसे अनेक बातोंमें मुसलमानोंका राज्य वर्तमानसे अच्छा था और आर्य्यों का उससे अच्छा; परन्तु उनमें यह राज्यकीय बनावटका सारा दोष नहीं है, दोष है तो दायित्वों और परमितियोंका यथेष्ठ प्रबन्ध न होनेमें है।

(२) अब थोड़ासा सभ्य समाजके आकस्मिक परिवर्तन पक्षमें कह कर हम इस अनुवाकको समाप्त करते हैं:—

यहांतक हमने वे बातें कहीं जो समाजकी जीवनाधार हैं बिना इस प्रतिज्ञा बन्धनके जो ऊपर कहा गया सामाजिक गठन जीवित नहीं रह सकता लेकिन हमारा यह बलपूर्वक कथन नहीं है कि यह मितियां (Limits) कोई जुदा चीजें हैं और बस है, इनके सिवा मनुष्य समाज गठनमें दूसरी बातोंकी प्रतिज्ञा करें ही नहीं सिवा उनके कि जो हमने कहीं।

देखिये कई अधिक बातें तो यही हैं:—

(१) समाज व व्यक्ति दोनोंकी प्रत्येक साम्बन्धिक मितियोंको ठीक करनेके पश्चात मनुष्य चुनले कि किस प्रकारकी शासनप्रणाली (Government) उन्हें स्वसामाजिक उद्देश्योंकी पूर्त्तिके निमित्त पसन्द है वा अभीष्ट है। और उस शासन-प्रणालीके स्थैर्य्य (Existence) के निमित्त जो जो बातें आवश्यक हों उनका भार अपने ऊपर लें और उसके अधिगत हों। मानलो कि प्रजा लोग प्रजा-तंत्र (Re-publican) शासन प्रणाली छांट कर पसन्द करते हैं जिसमें कि सारी शक्तिका मूल स्रोत

प्रजा ही होती है, तो उनका कर्त्तव्य होगा कि वह अपने सन्ततिको सचेत और नैतिक शिक्षा सम्पन्न करें क्योंकि बिना बुद्धि और नीतिज्ञताके प्रजा तन्त्र राज बहुत दिन नहीं चल सकता। यही कारण है कि सिवा दो चार पागल बच्चोंके अबतक और कोई समझदार मनुष्य भारतमें ऐसा नहीं जो यह चाहता हो कि अंग्रेजी शासन आज ही भारतसे उठ जाय; यदि है और हमको ही ज्ञात नहीं है तो हम मुक्त कण्ठसे कहेंगे कि वे नितान्त बेसमझ व हिताहित ज्ञान-रहित मस्तकवाले हैं। राष्ट्रीय दल जो आज कल भयसे देखा जाता है हमारा जहां तक अनुभव है इससे अधिक राज्यका शुभचिन्तक समूह संसारमें दूसरा नहीं पर इस दलके विद्वानोंका आशय ध्यानसे नहीं देखा गया। न इनकी सम्मति विश्वास पूर्वक राज काजमें ली गई वाह्य विचारोंपर ही इनको बुरा मान लिया गया। इसमें सन्देह नहीं कि दवा बहुधा पीनेमें कडुई होती है। यह लोग भी उचित निर्भय सत्य वक्ता होते हैं, यह चालबाजी (Policy) से बात नहीं करते इसीसे इनकी बातें कर्ण कटु सी लगती हैं पर यह अरा-जकता फैलाने वाले नहीं। सम्भव है कि मेरा विचार ठीक न हो तो पाठकगण अपने अनुभवको भी काममें लेकर विचारें कि क्या महात्मा लोकमान्य तिलक, अर्विन्द व लाजपतराय प्रभृति इतना भी नहीं जानते कि हमारे भाई और हमारी सन्तति अभी नैतिक और बौद्धिक स्थितिमें इतनी नीची है कि जो शासन इनको परम खुशीसे दे देवें तो भी न चला सकेंगे। पर हमें इन झगड़ोंसे काम नहीं, कहना इतना ही है कि बिना नैतिक और बौद्धिक उन्नतिके शासनका काम यथेष्ट प्रजातन्त्र हो वा प्रतिनिधि प्रधान (Parliamentary) कभी

नहीं चल सकता। और नवयुवकोंकी बौद्धिक शिक्षा सामाजिक नियमसे यथेष्ट हो सकती है न कि शासन प्रणाली से। यह कर्त्तव्य समाजको उक्त पारस्परिकत्व नियमानुकूल गठित शासन प्रणालीके सिवा अन्य गठनोंसे ही पूरा होता है। और धार्मिक शिक्षामें अधिक मतभेद व वर्गान्तर होनेसे इस विषयसे बाहर रह जाती है और दूसरे धार्मिक संस्थाओंका सङ्गठन चाहती है यह सब समाज जीवनके अतिरिक्त विचार जन्य बातें हैं।

सिद्ध किया जा चुका है कि प्रत्येक समाज एक पारस्परिक संयोग है प्रत्येक व्यक्ति शेष समष्टिके साथ कुछ शर्तें करता है। सबके स्वत्व बराबर हैं अतः जो अधिकार समाजको मिला है या मिलते हैं सार्वजनिक सम्मति प्रदत्त होते हैं। इसीकारण प्रत्येक व्यक्ति उसके नियम पालन करनेमें परतन्त्र होता है।

पर यह समाज साधारण मन घड़ित इच्छापर आधार रखनेवाली सभाके समान नहीं है यह ईश्वरी संस्था है अतः इसके नियम भी ईश्वर प्रणीत होने चाहियें। अस्तु—

प्रश्न होता है कि वह कौनसे नियम हैं जिनके अधिगत शङ्करने यह समाज रखा है। इस प्रश्नके विचारमें हम दो बातें ध्यानमें लाते हैं—एक तो वह काम जो समाजकी सत्ताके निमित्त अनिवार्य्य हों, दूसरे जो केवल आकस्मिक हों।

१—सभ्य समाजके जीवनके लिये क्या आवश्यक है ?

(क) परमात्मा समाजको जीवित रखना चाहता है अतः इस आधार पर प्रकट है कि वह उन कामोंका किया जाना नहीं पसन्द करेगा जो सामाजिक जीवनको हानि कर हों। और जो समाजमें सम्मिलित होता है वह स्वभावतः प्रतिज्ञा करता है कि जो बातें सामाजिक जीवन स्थैर्य्यके

प्रतिकूल होंगी उनसे निवृत्त रहेगा। हमको यह बात साफ देखनेमें आती है कि कोई मनुष्य ईमानदारीसे किसी ऐसे दो कामोंके करनेकी प्रतिज्ञा नहीं कर सकता जो स्वभावसे ही अनिवार्य्य प्रतिद्वन्द्वता रखती हों। जैसे 'मैं इस आगको बुझा दूंगा और कभी बुझने न दूंगा' कहना असम्भव है।

(ख) मानलें कि कुछ लोग मिलकर एक समाज गठन करते हैं और सब भलीभांति पारस्परिकत्व धर्मसे भिज्ञ हैं और सब तदनुकूल चलनेको भी उद्यत हैं। तो प्रत्येक मनुष्य ठीक अपनी मरजीके अनुसार काम करेगा, कुछ उसे त्याग भी न करना पड़ेगा तो भी प्रत्येक सदस्य मानवी सामाजिक प्रकृतिके पूरे पूरे लाभोंका सम्भोग करेगा अर्थात् हरेक जन उन सुखोंका जो उसकी स्वव्यक्ति और उसके सामाजिक गठन दोनोंसे प्रादुर्भूत होते हैं लाभ उठावेगा। यही हमारी समझमें मानवी समाजकी वह त्रुटिविहीन साङ्गोपाङ्ग स्थिति होगी जो हम सोच सकते हैं।

अतः जब समाज अपनी अत्यन्त निर्दोष स्थितिमें; विना किसी व्यक्तिके किसी ऐसे स्वत्वको छोड़े जो पारस्परिकत्व नियमके विरुद्ध न हो, रहे तो समाजकी स्थिति कोई ऐसा कारण उपस्थित नहीं करती कि कोई किसी ऐसे स्वत्वसे हाथ धोये जो वह इस नियमके अनुसार भोग सकता है। दूसरे ऐसे कारण जैसे कृपा, दया, धर्म विशेष आदि दूसरी बात हैं, उनसे इसप्रश्नका सम्बन्ध नहीं है।

जब हरेकको यह मौलिक स्वत्व प्राप्त है कि वह जैसा चाहे करे पर इस प्रतिबन्धसे कि किसी पड़ोसीके स्वत्वोंमें बाधा न पड़े और जब समाजका जीवन स्थैर्य्य (Existence) कोई कारण नहीं बतलाता कि क्यों स्वत्वोंमें बाधाकी जाय तो ऐसे

समाजके अस्तित्व रहते हुए भी स्वत्व ठीक ज्योंके त्यों वैसे ही बने रहते हैं जैसे आदिमें थे। अर्थात् व्यक्तियोंके स्वत्व बेबदल प्रत्येक व्यक्तिमें स्थिर रहते हैं।

(ग) अब मानलो कि पारस्परिकत्व (Reciprocity) नियमको भंग करता है जैसे 'क' ने 'ख' की कोई चीज चुराई और उस प्रतिज्ञाको भंगकी जिसे दोनोंने परस्पर की थी। जो यह बात होकि चोरी होने दी जाय तो पारस्परिक नियमानुसार सब खुब चोरी करेंगे और सम्पत्तिकी रक्षा निर्मूल हो जायगी और प्रत्येक व्यक्ति निरुपचार लुटने लगेगा और समाज भङ्ग हो जायगा। अतः चोरी समाजको भङ्ग करनेवाला दोष है और पारस्परिकत्व नियम विरुद्ध भी है क्योंकि प्रत्येकको अपनी वस्तुका चोरी जाना असह्य होता है।

(४) फिर मानलो कि 'ख' उपचार (Reress) का काम अपने हाथमें लेता है आपही अपना न्याय धारा प्रणेता, व्यवस्थापक (Judge) और दण्ड सम्पादक (Executioner) भी बनता है। मानवी मनके स्वभावजन्य सिद्धान्तसे प्रकट है कि इस दशामें 'ख' दुखितके बदले दुखद बन जायगा। तब 'क' बदलालेनेको इसी तरह उठेगा और इस अन्योन्य दण्डादण्डीमें एकका नाश हो जायगा या दोनोंका। अत: प्रत्येक विवाद व विरोध असाध्य हो जायंगे व अनन्त समर और असाध्य निठुरता समस्त समाजको घेरलेंगी और सब अनन्त मारधाडके कारण समाज छोड एकाकी ही रहना स्वीकार करेंगे। अर्थात् समाजका जीवन नष्ट हो जायगा वा समाज भंग हो जायगा।

सार यह कि कोई अपने झगडे या अन्यायका विचारक आप नहीं हो सकता क्योंकि यह बात समाजको प्राण घातक

प्रतीत होती है। चाहे जिस तरहका पारस्परिक नियम अंगीकरण क्यों न हो दुखित वा दुखद दोनोंसे एक भी स्वयं पक्ष-परपक्ष नहीं हो सकता। मनुष्य परमात्माकी भांति सर्वथा निर्दोष नहीं हैं इससे भूलें अर्थात पारस्परिकत्व, नियम भङ्ग होते ही हैं और उनका न रोकना समाजको भङ्ग करनेका प्रबल कारण होता है क्योंकि दुष्टोंकी साधुओं पर चढ़ बनती है जिससे न्याय करना भी समाजका काम ठहरा; अतः मानवी सभ्य समाज संगठनमें यह बातें मानी हुई हैं।

(।) प्रत्येक मनुष्य पारस्परिकत्व नियमानुकूल चलनेकी प्रतिज्ञा करता है। जो नियम, एक व्यक्तिको भंग करनेका अधिकार दिया जाता है उस नियमको सब भंग करनेके अधिकारी होते हैं क्योंकि सब समान हैं। असमानवास्थामें पारस्परिक नियममें भी विशेषता होती है जिसका परिणाम वही समाजका नाश होना सिद्ध होता है। जो समाज प्रदत्त सुख उठावेगा वह उसके नियमको भी मानेगा। जो नियमोंके पालन विना सामाजिक लाभ उठाना चाहता है वह नहीं उठा सकता क्योंकि वह इसका अधिकारी नहीं अतः उसे समाजसे हटकर अलग रहना चाहिये।

(॥) प्रत्येक जन प्रतिज्ञा करता है कि उसपर जो अनीतियां हों उनका उपचार समाज करे मैं स्वयं कुछ न करूंगा, मैं अपने इस स्वत्वको समाजके अधिगत करता हूं। सिवा उस कामके जो मैं तत्क्षण उस अनीतिसे बचनेके निमित्त कर सकूंगा। जैसे एक डाकू आया और लूटने लगा तो उसी समय अपनी सम्पत्ति बचानेको और प्राणोंको रक्षाको हम उससे लड़ सकते हैं यह अधिकार सबको समान प्राप्त है पर पीछेसे उसे पकड़ना दण्ड देना आदि काम समाजका है।

(iii) प्रत्येक जन अपनी रक्षाका भार समाजको सौंपता है और अपने अन्यायका दण्ड भोगना भी स्वीकार करता है।

पुनः समाज प्रतिज्ञा करता है :—

(i) कि हम प्रत्येक व्यक्तिके स्वत्वोंकी रक्षा करेंगे किसीके उचित अधिकारों और सम्भोगोंमें वाधा न पड़ने देंगे। प्रत्येक जनको पारस्परिकत्यनियमोंके अधिगत रखेंगे।

(ii) सब अनीतियोंका जो किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूहपर दूसरे किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूहसे होगी, हम उसका प्रतिकार और उपचार करेंगे। चाहे अनीति करते समय ही रोक कर अथवा यदि अनीति हो जायगी तो उसकी बाबत पीछेसे दण्ड देकर।

यह जान लेना चाहिये कि उक्त सौंप एक ओर एककी करणीय दूसरी ओर सबकी सार्वभौमिक है। एक ओर व्यक्ति पूरी तरहसे सोलह आने अपने बचाव और न्यायका स्वत्व समाजके भरोसे पर त्यागता है दूसरी ओर समाज उसके बचाने, रक्षा करने, और हर तरह न्याय करने का भार अपने ऊपर लेता है। चाहे जो स्वत्व भङ्ग किया गया हो, कितना ही छोटेसे छोटा क्यों न हों, उसके प्रतिकार वा उपचारमें कितनाही खरच क्यों न पड़े, समाजको करना ही होगा।

अनुवाक ३

"समाजकी अभीष्ट सिद्धि कैसे होती है।"

यहांतक तो हमने समाजका गठन ही बतलाया है और दिखलाया है कि व्यक्ति और समष्टिमें किस प्रकार पारस्परिक प्रतिज्ञायें हैं व उनके कारण कौन कौनसे कर्त्तव्य उनके सिरपर होते हैं। समाजका धर्म्म होता है कि व्यक्तियोंकी रक्षा

करे जो कोई व्यक्ति पारस्परिकत्व नियम भंग करे उसे दण्ड दे और जो किसीकी हानि हुई हो तो उसका उपचार करे।

किन्तु प्रकट है कि इस कामके लिये समस्त समाज नहीं खड़ा हो सकता। क्या एक आदमी चोरी व बलात्कार करे तो उसके प्रबन्धके लिये शेष समस्त समाज व्यक्तिरूपमें उठखड़ा होगा? तब तो सबको ही अपना कार्य्य व्यवहार छोड़कर नित्य खोज, अन्वेषण, जांच पड़ताल और दण्ड व्यवस्थामें ही लगा रहना पड़े और जगतका सारा काम पड़ाही रह जाय। या यदि इस प्रकारके दोषों और अपकृत्योंके शमन व प्रबन्ध के निमित्त न्याय धारा ही शृङ्खलित करनी हो, तो क्या सारा का सारा समाज मिलकर यह काम करेगा, अवश्य ही हमें यह सब काम प्रतिनिधियोंको ही समर्पण करने होंगे। कार्य्य विभागकी (Division of labour) नीतिके अनुसार प्रतिनिधि द्वारा ही उक्त कामोंका भी अन्य कामोंकी भांति उत्तम, सुगम और सस्ता प्रबन्ध हो सकता है। यह प्रतिनिधि इन कामोंमें लगे रहेंगे और दूसरे काममें लगे हुयोंसे उसे अच्छा भी करेंगे। उक्त कामोंके करनेके लिये ईश्वरसे डरने वाले, विद्वान, धार्म्मिक सदाचारी, निर्लोभ' निष्पक्ष और अनुभवी लोग ही उचित होते हैं अतः यह ब्राह्मण या ईश्वरज्ञ, धर्म्मज्ञ कहे जाते हैं। आज कल इन्हें समूह रूपमें शासन विभाग (Government) कहते हैं।

अब हम शासन विभागकी उस प्रतिनिधि कार्य्य-वहन प्रणाली की कल्पना करते हैं जिसके द्वारा समाज अपने व्यक्तिके प्रति कर्त्तव्य पालन होता है। इसके साथ ही प्रत्येक समाजको और भी अनेक काम अन्य स्वतन्त्र समितियों द्वारा करने पड़ते हैं, अतः साधारणतया सुभीता इसीमें है कि इसी ढंगकी और

भी आढतें (Agencies) हों। यह दोनों शासन-धर्म-पद यद्यपि सामान्यतः तो एक ही हैं पर कार्य्यके स्वभावके देखते विभिन्न हैं। उक्त विचारसे शासन तीन भागोंमें विभक्त समझा जाता है।

(१) सम्भव है कि कोई व्यक्ति भूलकर अनजान किसी पडोसीके स्वत्वको भङ्ग करडाले और दण्डका पात्र बने और दूसरा दुष्टतासे पडोसीका स्वत्व भङ्ग करे व दण्डका भागी हो तो दोनोंको एक समान दण्ड देना बुद्धि असङ्गत होगा अतः दोषोंमें भेद करना पड़ेगा और दण्डोंमें तारतम्यता रखनी होगी। इसीके विधानको शासन, धारा वा कानून कहते हैं। यह प्रजा प्रतिनिधियों द्वारा सम्पादित होता है, इन प्रतिनिधि समूहको व्यवस्थासद्म (Legislature) कहते हैं। और इसके पृथक २ सदस्योंको (Legislator) व्यवस्थापक कहते हैं।

इनकी शक्ति परमित होती है, जो काम शासन धारा निर्म्माणका इन्हें समाजने सौंपा है उसके सिवा और कुछ इनके हाथमें नहीं होता। अर्थात यह वह रीतें-सोंचे-व स्थिर करें कि जिससे समाजने जो व्यक्तियोंकी रक्षाका भार अपने ऊपर लिया है यथावत निवाह सके, यदि इस व्यवस्थासद्म स्वशक्तिका अतिक्रमण करके कुछ और करता है तो वह स्वत्व भङ्ग करता है और अन्याय व अत्याचारका दोषी है।

(२) नियम सार्व भौमिक साधारण दृष्टिसे बनाये जाते हैं जिसमें दोषोंको स्पष्ट करके दिखला दिया जाता है और उसके साथ उस दोषका दण्ड भी लगा दिया जाता है। इसमें किसी अभियोग विशेषका सकेत नहीं होता, क्योंकि दण्ड संग्रह स्थापन करते समय अभियोग विशेष तो सम्मुख होते ही नहीं किन्तु पूर्व अनुभवका भाविक विचार ही सामने होता है।

अब मानलो कि किसीने कोई अपराध किया तो हमें इन्हीं शासनोंकी धाराओंसे काम लेना होगा अर्थात इनका प्रयोग करना होगा—इसके निमित्त हमें इतनी बातोंपर ध्यान देना पड़ेगा।

(क) क्या अभियुक्तने वास्तविक वह काम किया जिसका अपराध उसपर आरोपित किया जारहा है। क्योंकि मिथ्या दोषारोप कियाजाना भी सम्भव है।

(ख) यदि सिद्ध होजाय कि काम वास्तवमें अभियुक्तने किया है तो देखना होगा कि क्या यह कृत्य उन कामोंके विवरणमें आती है जिनका करना या न करना न्याय शासनमें वर्जित किया गया है। यदि सिद्ध हो कि किया है तो ;

(ग) देखना होगा कि कृत्य साधु बुद्धिसे की गई है, अनजान वा अकस्मात प्रघटित हुई है अथवा दुष्ट बुद्धिसे जान बूझकर।

(घ) अपराध सब तरह निर्णीत हो चुकने पर दण्ड विचार हो इसी विभागका नाम है, अनुशासन विभाग (Judicial Department of the Government)

(३) जब इसतरह शासन धाराका प्रयोग विषय विशेषमें हो ले तब उसकी आज्ञाको कार्य्यमें परिणत करना कराना तीसरे ही विभागका काम है जिसे कर्तृक विभाग कहते हैं—इसतरह शास्त्रिक, अनुशासक और कर्तृक तीन विभाग होते हैं-Legislature, Judicial and Executuve यह तीनों राजार्थ्य परिषद्के अवयव हैं 'सैनिक विभाग' और जोड़ देनेसे राजार्थ्य परिषद् पूर्ण हो जाता है। इन चारोंके उपविभाग भी होते हैं ; विद्यार्थ्य परिषद् Educational और धर्म्मार्थ्य परिषद्को

Ecclesiastical; इसी तरहके उपविभागोंमें सुगमताके निमित्त काम विभाजित करते हैं।

असली कसौटी उत्तम राज्यकी यह है कि उसके द्वारा प्रजा समदर्शी, शान्तिप्रिय, धर्म्मात्मा नितिज्ञ, और सन्तुष्ट रहे। सूर्य्यवंशी दलीप, राम प्रभृतिके व्यक्तिक राज्य भी आजकी अमरीकासे अधिक सुखप्रद थे और आजकी अनेक विलायती खिचड़ी तो बहुत घृणित और सिद्धान्त विहीन हैं।

कहीं तो नीति ऐसी सिथिल और तृष्णा ऐसी प्रबल पाते हैं कि जो राज नीतिका सहारा लें तो प्रजामें अन्धेर फैले। कहीं राज्य ऐसा दुष्ट निर्दयी और नीति भ्रष्ट है कि प्रजा नीतिज्ञ होनेके कारण दुखपाती है।

आजकल राजका मूल लट्ठ. भय अत्याचार शक्ति और मार खसोट है। प्राचीन आर्य्यावर्तमें राजकी जड़ें धर्म, सत्य, सम दृष्टि, न्याय, त्याग, प्रेम और ईश्वर व देश भक्ति थीं।

'जिसकी लाठी उसकी भैंस, यह दुष्टता है ; चाहे राजमें हो वा प्रजामें। अथवा अन्य वर्ग विशेषमें।

सर्व प्राणीको समान देखना प्यार करना यही साधुता है चाहे राजामें हो वा प्रजामें।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योर्जुन
सुखं वा यदि वा दुःखं सयोगी परमोमतः।

अनुवाक

"राज्य कर्म्मचारी।"

राज्यको समाज प्रदत्त अधिकार मिले होते हैं जिसका कि वह कार्य्यकर्त्ता है और समाजकी व्यक्तियोंके योगसे बनी प्रतिज्ञायें और समाज व व्यक्तियोंके अन्तर्गत सम्बन्ध और

समाज ईश्वरीय आज्ञानुकूल आविर्भूत हुए हैं। राज्य कर्म्मचारी समाजके अङ्ग हैं अतः निस्सन्देह वह भी ईश्वरीय नयसे बंधे हैं और उस स्रष्टाकी आज्ञाओंके नियमानुकूल अपने पदके कर्तव्योंके पालन करनेके भारसे दबे होते हैं। इसी कारण इनमें और दूसरोंमें कोई अन्तर नहीं कि किसी टीप या प्रतिज्ञाका, दूसरा पक्ष, अपना भाग कैसे निबाहता है? राज्यकर्म्मचारी ईश्वरीय सेवक है जो कार्य्य विशेषके निमित्त पृथक् चुनकर नियत हुआ है कि वह ठीक उन्हीं सिद्धान्तानुसार काम करे जिनके आधारपर परमात्माने बतलाया है कि इस सम्बन्धका प्रबन्ध रखना उचित है।

राज्यके तीन मुख्य पद हैं—शास्त्रिक,-अनुशासक और कर्तृक। पहले शास्त्रिक लीजिये क्योंकि बिना शास्त्र (शासन पद्धति) बिना शासन किसके आधारपर हो और सर्वसाधारणको अनुकूल या प्रतिकूल बात कहने व जाननेका आधार क्या हो।

(१) [क] शास्त्रिक समितिका काम है कि पहले तो मानवी समाज सिद्धान्तको भलीभांति जानले, व्यक्ति और समाजान्तर गत सम्बन्धोंको समझले, और प्रत्येकके अन्योन्य करणीयोंका ज्ञान प्राप्त करले।

इन्हीं तीन बातोंके पूर्ण ज्ञानसे उसके कर्तव्य और उसके अधिकार परिमित होते हैं; बिना इनके जाने कोई सदस्य शास्त्रिक समितिका नहीं जान सकता कि क्या तो कदाचार है, क्या सदाचार व क्या अत्याचार, न वह विशुद्ध अन्तरात्मासे इस ज्ञानके बिन कोई विचार वा उपचार ही यथेष्ट करनेको समर्थ हो सकता है।

(ख) पुनः शास्त्रकारका धर्म्म है कि उस शर्त या उनशर्तोंकी जड़को अच्छीतरह जानले जिसके आधारपर गठित समाजके

निमित्त वह शासन सूत्र निर्म्माण करने चला है। इसमें समिति विशेषकी शर्तोंकी साधारण स्थितियोंके अतिरिक्त और बातें भी होती हैं। उसके द्वारा प्रायः समाजकी विशेष बातोंका निश्चय होता है जो कि समितिमें नहीं मिलतीं। समिति विशेषके ही शर्तोंके अनुसार राज्यके कईएक शाखाओंके अधिकारकी सीमा स्थिर होती है जो उक्त ज्ञान-विहीन शासन सूत्रकार बनता है,वह अभद्र और तिरस्कारके योग्य होता है। वह सारे ही अधकचड़ व शेखीखोरोंका दादा गुरु नीमहकीम है जो रोगके विना जाने ही चिकित्सा करता है और नहीं जानता कि उसकी औषधि अमृतका काम करेगी वा विषका। यह अपराध वह किसी व्यक्तिके प्रति नहीं वरन् सारी समाजके प्रति करता है। और हम नहीं कह सकते कि कितनी अधिक हानि वह समाजको नहीं पहुंचा सकता, अतः शास्त्रकारको बहुत सावधानी व जांच पड़ताल और छानबीन करके निर्वाचित होना व करना चाहिये अर्थात् सदस्य भी समझकर यह पद ग्रहण करे और समाज सोच समझकर ही यह पद प्रदान करे ; नहीं तो समाजमें अशान्ति और अराजकता शीघ्र विषके समान फैलकर ईश्वरके दासोंको हानिकर होंगी।

(ग) शास्त्रकार अपने अधिकार बहुत समझकर काममें लावे किसी तरह अतिक्रम और असावधानी न करे। जो अधिकार जिस कामके लिये है ठीक उसीमें प्रयुक्त करे और सर्वथा समाजका शुभ चिन्तक अन्तर्वहिर दोनों ओरसे ही बना रहे। पक्षपात छोड़कर साधारण और विशेष दोनों सन्नियोगों (Compacts) के सिद्धान्तोंपर दृष्टि रखकर काम करे जैसा कि प्रजाने विश्वास कर रखा है कि वह करेगा। दूसरोंके कामका दूसरा दायी नहीं होता अतः वह भी औरोंकी कृत्यका

कदाचित उस समयतक दायी नहीं है जबतक वह इसतरह पर प्रजाकी ओरसे, शासन समिति द्वारा, दायी न नियत हो या किसी अन्य नियमसे दायी न हो। यह किसी वर्ग विशेष, उपजाति विशेष, या उपप्रान्त (कमिश्नरी) विशेषका अङ्गी व पक्षपाती नहीं है, न दल विशेष (Party) का व्यक्ति है वरन वह सारी समाजका मंगल साधक पवित्र देव है। जो इसके विपरीत पक्षापक्षी, दलादली करता है वह अपने देश, अपनी जाति और अपनी माताके दूधका झूठा है। ईश्वर वञ्चक राक्षस है, याद रहे, वह ईश्वरको नहीं ठग सकता, स्वप्रासे फिरना वा झूठा होना उसे बुरा फल देगा; नहीं नहीं वह देशके इतिहास रूपी शास्वत स्तम्भोंपर अपना वह विकृत रूप अङ्कित करता है कि जिससे उसके देशवासी, प्रलय कालतक, देख देख कर घृणा करेंगे व थूकेंगे।

(घ) उसका काम है, उसका धर्म है कि सब दूसरी बातोंको जहां कि तहां चाहे अधूरी ही छोड़ दे, वर्तमान आवश्यकता व विचित्र स्तिथियों और दशाओंका बहाना न ले। जो वह कदाच् अपने सङ्गठन (Constitutional powers and obligations) अधिकार व करणीयोंकी सीमासे बाहर चरण धरता है, बुरा करता है; चाहे यह सीमा उल्लघन उस कार्य्यसे हो जो वह करता है चाहे उस अभीष्टमें हो जिसके निमित्त कार्य्य किया जाता है, दोनों दशामें वह एक समान निठुर प्रजा पीड़क (जालिम) है। जो अधिकार उसे दिये गये हैं वही उसके अधिकार हैं, अन्य कोई नहीं, जो कोई भी दूसरा बिना सौंपा हुआ अधिकार काममें लाने लगे तो आज यह कल वह परसों और इसी तरह सारे ही अधिकारोंका भण्डार बन जायगा; अनीतियोंकी

रोकें टूट जायंगी, नियमोंके बन्धन ढीले हो जायेंगे और प्रजा-की स्वतन्त्रता कहानी अर्थात पहेलिका मात्र रह जायगी। हां, इसमें सन्देह नहीं कि जो उसे समाजके अभीष्टोंके पूरा करने वाले यथेष्ट अधिकार न हों तो भी असुविधा खड़ी हो जायगी। यदि ऐसा हो कि किसी अधिकारकी कमीसे असुविधा हो तो उस असुविधाको कुछ समय तक सहन करके जो फेरफार अभीष्ट हों यथा नियम सिद्धान्तानुकूल कराये जावें, परन्तु जब यह आवश्यकता प्रजाको पूर्णतया अवगत हो जाय तब ही अच्छा होता है, न कि ऐसे सिद्धान्तोंपर चलकर ऐसी असु-विधाका प्रतिकार करना कि जिससे प्रजाकी ईश्वर प्रदत्त स्वतन्त्रता नष्ट होकर एक असाध्य असुविधा उत्पन्न हो जाय।

(२) अनुशासक कर्मचारी अर्थात् शास्त्रानुकूल व्यवस्था देने वाले कर्मचारी वर्ग।

(क) यह वर्ग राज्यकी एक स्वतन्त्र शाखा है और एक विभिन्न और स्पष्ट सामाजिक अन्तर्थ है, जिसका काम है कि उस टीप या प्रतिज्ञाका, जो समाजने प्रजाके साथ की है एक अंश विशेष पूरा करे। चाहे कोई कर्मचारी किसी रीतिसे क्यों न नियत हुआ हो, ज्यों ही वह पदारूढ़ हुआ कि वह समाजका और मात्र समाजका ही कार्य्यकर्ता हुआ। जैसे शास्त्रकार वैसे ही न्यायाधीश व सरपञ्च दोनों ही सामा-जिक टीपके सिद्धान्तोंसे बंधे हैं और जिस समाजकी ओरसे वह काम करते हैं उसके नियमोपनियम विशेषके भी वह अधिगत हैं।

यही इसके (अनुशासक कर्मचारीके) अधिकारकी सीमा है और वह यदि नियत नियमोंसे विचलित पद होता है तो वह अपनी निजकी उत्तरदातृत्व पर ऐसा करता है और सामाजिक दण्डका भागी होगा।

(२) इस प्रणालीके मन्तव्य जैसे कि शास्त्रोंमें हैं, उसे क्योंके त्यों ठीक ठीक प्रयोग करने होंगे—न राई भर घट सकता है न तिल भर बढ़ सकता है। अतः हमें शास्त्रकार और व्यवस्थाकारका सम्बन्ध प्रत्यक्ष होता है। दोनों ही मौलिक प्रणालीके सिद्धान्तोंके बन्धनसे एक समान कसे गये हैं। दोनोंके अधिकार तदनुसार ही परिमित हैं। दोनोंके कार्य्य उचित व मान्य (Valid) हैं, पर जहां तक कि उनका काम प्रणालीके आज्ञानुसार हो। अतः जो शास्त्रकार अपने प्रति सहज विश्वासको भङ्ग करे और संगठनके विरुद्ध अनुशासन (act) बनावे तो व्यस्थाकारका धर्म है कि उनको प्रयुक्त न करे जो एकने संगठनको तोड़ा तो दूसरेको एसा ही कुकर्म करनेका अधिकार नहीं है। यह भी स्वतन्त्र समिति है और समाजके सन्मुख उन्हीं मौलिक सिद्धान्तों पर उत्तर दातृत्व रखती है जिनपर कि शास्त्रीय समिति। अर्थात शास्त्रकार और व्यवस्थाकार दोनोंकी सहमत्ता विना कुछ न होना चाहिये।

अतः सरपञ्च, न्यायाधीशका धर्म्म है कि इतनी बातोंको समझ लें।

(१) उस टीपके सिद्धान्त क्या हैं जिनके आधार पर उसको अधिकार मिले हैं या दिये गये हैं।

(२) उस जनपदके नियम क्या हैं जिनका वह कार्य्य कारी है।

(३) इन नियमोंको भय, पक्ष, प्रीति, द्वेष आदिको छोड़ कर व्याख्या करना और जो विशेष विषय उपस्थित हों उसके साथ व्यक्तिक, सामिहिक या राजकीय पक्ष पातआदिको परित्याग करके स्पष्ट सम्बन्ध दिखला देना।

(४) शासन धाराके विशुद्ध मर्म्मानुकूल व्यवस्था देना।

(५) पञ्च लोग भी सामयिक राजकीय व्यावस्थापक

कार्य्यवाहक होते हैं अतः उनका भी धर्म्म है कि इतिवृत्तके अनुकूल ठीक व्यवस्था दें, खूब समझबूझकर और पूरे बुद्धि-बलके अनुसार ; योग्यता, सत्य, निष्पक्षता और धार्म्मिक भयके साथ व्यवस्था दें।

(३) प्रबन्ध राज्य कर्म्मचारी वर्ग। इनके दो भेद हुआ करते हैं एक स्पष्ट दूसरे मिश्रित।

(१) स्पष्ट वह हैं जो केवल उक्त दोनों विभागोंकी आज्ञाओंका पालन करते हैं, इन्हें यह अधिकार नहीं होता कि आज्ञाके अच्छे बुरे होने पर विचार करें। सेनाके लोग, नागरिक सेनाके लोग (Police) सब इसी श्रेणीके कर्म-चारी हैं। इनका यही कर्त्तव्य है कि जो इन्हें विश्वास हो कि इनसे अनीति कराई जाती है तो पद परित्याग कर दें किन्तु पदस्थ होकर आज्ञाका पालन न करना उचित नहीं है।

(२) मिश्रिताधिकारी रखना अत्यन्त घृणित प्रथा है। एक ही मनुष्यका शासन धारा निर्म्माता होना, तदनुसार व्यवस्था देना व कर्त्तृ-वर्गका भी काम करना, समाजके वास्ते एक प्रकारका अभिशाप है। आजकल जो दोनों विभागोंके अधिकार फिरङ्गी प्रबन्धमें मजिष्ट्रेटों तहसीलदारोंमें देखते हैं, यह अति दूषित है।

एक तरह पर उक्त तीनों ही अथवा चारों ही उपविभाग स्वतन्त्र हैं एक दूसरेके अधिगत नहीं—अपने अपने कामोंके आप ही समाजके सामने दायी हैं, समाज ही इन चारोंका अधिष्ठाता है। क्योंकि ये समाजके उपादान हैं, कार्य्यकर्त्ता हैं, कुछ समाजने इनको अपने स्वत्व दे नहीं डाले कि सदा सर्वदा समाजने अपने स्वत्वका इनको मालिक बना दिया हो, और अपने इन सब अधिकारोंको त्यागकर चुका हो। चाहे एक

विभागका कार्य्यवाहक समाजकी आज्ञानुकूल दूसरा विभाग नियत करता हो पर तो भी उनमेंसे कोई एक दूसरेका अधिगत नहीं होता और ऐसा ही स्वतन्त्र होता है जैसा दूसरी तरह पर नियत किये जानेसे हो सकता। इन कामोंमें प्रजाके अतिरिक्त कार्य्यवाहक ईश्वरके सामने भी दायी होता है।

अब इसमेंसे प्रथम दो विभाग प्रायः उपविभागोंमें विभक्त माने व समझे जाते हैं; शास्त्री सभा पक्षपात और अनुचित कामों व दोषोंसे रोकनेके निमित्त दो भागोंमें इसतरह विभक्त रहती है कि एकका दूसरे पर रोक व दबाव पड़ता रहे जिसमें दोमेंसे एक भी अन्याय न कर सके। यह देशकी स्थिति अनुसार होता है। जैसे राष्ट्रीय दल व शासन दल। पुनः धर्मानुशासन विभाग भी दो भागोंमें विभक्त होता है एक न्यायाधीश (Judge) जो धर्म्म शास्त्रकी धाराओंके अर्थका निर्णय करता है दूसरे पञ्च (Jury) गण जो घटितत्वका निर्णय करते हैं। जहां ऐसा नहीं वह राज्य प्रणाली अत्याचार पूर्ण समझनी चाहिये।

कर्त्री सभा अकेली होती है, उसीके विधानानुकूल उसके अधिगत सारे कर्म्मचारी, महत्तम या लघुतम सब, काम करते हैं। इसको कर्तृक मण्डल कहते हैं, इस मण्डल और कर्म्मचारी समूहका योग कर्त्री सभा होती है। इन सब परिषदों, मण्डलों और सभाओंके संगठन और नियम दृढ़ लिपिबद्ध सार्वजनिक समाजके स्वीकृत होते हैं। कभी कभी इन सिद्धान्तोंके प्रयोगानुभवसे प्रणालियां पड़ जाती हैं। अमरीकाका शासन आजकल ठीक समझा जाता है शेष सब स्थानोंमें अनेकानेक त्रुटियां पाई जाती हैं, परन्तु उसमें भी कुछ दोष हैं, जो हम दूसरे

निबन्धके वास्ते छोड़ते हैं। इसमें शासन प्रणालियोंकी आलोचना करनेका विचार है यदि हो सका।

हम अलग अलग जातियोंमें पदाधिकारी निर्वाचन प्रथाएं विभिन्न देखते हैं। कहीं कहीं तो शासन-शक्ति नितान्त बापौती ही होती है, कहीं कहीं कुछ निर्वाचित और कुछ बापौती अर्थात दोनोंकी खिचरी, कहीं कहीं पूर्ण निर्वाचित पद होते हैं। इसमें अन्तिम प्रथा ही ईश्वर प्रदत्त और वेद मान्य है, अन्य सब प्रथाएं नवीन और अमान्य एवं असन्तोष जनक व दुखप्रद होती हैं। सृष्टिके आदिमें जब प्रथम अमैथुनी सृष्टि हुई तब बापौतीका राज लेकर कौन उतरा था? किसके मुखमें सोनेके चमशे थे? सभी तो समान दशामें थे केवल योग्यतानुसार उनको मनुष्योंने उच्चपदस्थ होनेको चुना व माना। आजकल भी बदमाश लोग उच्च होने व अमीरी व हकूमतका झूठा बड़प्पन लादे फिरते हैं किन्तु गरीब, निर्बल कभी भी नीच नहीं कहा जा सकता, मानवी सृष्टि सर्वथा समान है। अमीरोंसे गरीब अधिक धार्म्मिक व सत्यवादी होते हैं, गरीबोंका अनुचित रक्त पान करके ही मोटे मोटे दुष्ट लोग अमीरी झलकाते हैं। देश रक्षा, राज्य रक्षा, धर्म्म रक्षा, अन्न उपार्जनादि सभी कामोंमें उन्हींका पसीना उन्हींका रक्त खपता है जिन्हें दुर्बुद्ध लोग नीच कहते हैं और आप हरामखोर आलसी बेइमान होते हुए भी उच्च व अमीर बनते हैं। ऊंचे और नीचेका भेद, मिथ्या व कल्पित और अन्यायके आधारपर, हम सर्वत्र फैला देखते हैं।

अनुवाक ३।

नागरिकोंके कर्त्तव्य।

नागरिकके कर्त्तव्य भी व्यक्ति और समष्टि भेदसे दो प्रकारके होते हैं इन्हीं दोनोंको विचारमें लेकर हमें उनके कर्त्तव्योंका कथन करना अभीष्ट है।

(१) व्यक्ति रूपसे प्रत्येक जनका धर्म्म है कि शुद्ध मनके साथ, शुद्ध हृदय होकर उन प्रतिज्ञाओंका पालन करे जिन्हें कि समाजिक टीपान्तर्गत उसने पालन करना स्वीकार करके समाजमें युक्त हुआ है। इनके अनुसार उसे सबसे पहले पारस्परिकत्व न्यायको मानना होगा जहां तक कि उसका दूसरी व्यक्तियोंके साथ संयोग, सम्बन्ध या काम है या पड़े। इस न्यायको कई तरह पर पहले स्पष्टतया कहा जा चुका है। इतना यहां कह देना आवश्यक है कि यह पारस्परिक समता न्याय न हमें केवल उन कामोंके करनेसे रोकता है। जो समाजके मूलोच्छेदके कारण हैं या जो उसके सुखमें वाधक हो सकते हैं, वरन उन कामोंके करनेको भी वाध्य करता है जो उसके सुख शान्तिकी वृद्धि करने वाले और उसकी स्थैर्य्य को दृढ़ करने वाले हैं।

(२) अपराधोंके दण्ड देने और अनीतियोंकी दुरुस्तीका सारा अधिकार समाजके हाथोंमें ही पूर्णतयः सौंपना होगा। स्वयं सताना बदला लेना किसी दशामें भी ठीक नहीं समझा जायगा। पड़ोसीके घर चोर डाकू पड़ें आग लगे और ऐसी ही कोई भी दुर्घटना हो तो शुद्धान्तः होकर सहायता करनी पड़ेगी। समाजके शासन, ताड़न और न्यायसे बचनेकी चेष्टा न करनी चाहिये। जो इन सहायता अपनी अयोग्यतासे न

कर सकें तो किसीको हानिकर न हों, हां अपने धन, सम्पत्ति और शरीरकी सामयिक रक्षा, दुष्टोंके आघातसे, करनेका अधिकार रखते हैं पर याद रहे कि जो हम डाकू या हत्यारेको अपने सामयिक बचावके निमित्त अनुपचार होकर मार डालते हैं तो दूसरी बात है पर जो हम उसे पकड़लें तो फिर समाजके ही पास ले जाना चाहिये जहां उसका न्याय हो, जो हम स्वयं उसे फांसी देते हैं तो हत्या करते हैं।

(३) समाजके शासन धाराओंको अक्षरशः मानना। शासन सूत्रोंका भङ्गीकरण ठीक नहीं चाहे वह नियम अच्छे हों वा बुरे; हम बुरे नियमोंका संशोधन करा सकते हैं पर उन्हें तोड़ नहीं सकते। समाजमें अधिकांश जनोंकी व्यवस्था हमें सिरोधार्य्य करनी ही होगी। जो कर असह्य है तो न देना ठीक नहीं पर घटवानेकी चेष्टा उचित है क्योंकि जो भूल हुई है वह अधिकांश प्रजा सम्मतिसे हुई है उन्हींके द्वारा उसका संशोधन होना उचित है किन्तु शासन सूत्रकी अवज्ञा उचित नहीं।

पुनः तृतीय सामिहिक अङ्गमें भी हमें अनेक बातों पर ध्यान देना होगा, जैसे :—

(१) प्रत्येक समाजके व्यक्तिकी सुख, सुविधा, स्वतन्त्रता और मान मर्य्यादाकी प्रतिष्ठा करना बिना इस बातके विचारके कि कोई छोटा है वा बड़ा, अमीर है वा गरीब, बलशाली है वा निर्बल।

(२) सबको एक समान न्यायकी शरण देना। जो अपराध किसीसे या किसीका किया गया हो तो उसका यथावत न्याय शासन करना, उसके क्षतियोंको दुरस्त करना उसकी रक्षा करना।

(३) सभ्य समाजके नियमोंका पालन करना। पापियोंको खोजना व दण्ड दिलाना, चाहे पाप व्यक्ति विशेषके प्रतिकूल हो वा समाजके। जब किसी पाप कर्मकी घटनाकी सम्भावना हो तो उसका प्रागप्रबन्ध करना कि वह घटना न हो और पापाचार करने वालों या करनेकी इच्छा रखने वालोंकी यथोचित शास्ती हो। इस समाजरक्षार्थ व्यक्तियां अपनी सम्पत्ति होसे नहीं किन्तु कायिक प्रयोगसे भी सहायता करनेको वाध्य हैं। जो अपने नेत्रोंके सामने मार धाड़ लूट खसोट अत्याचारके कामोंको होते देखकर चुप और निष्क्रय रहता है वह भी पापी है। जो समाज जान बूझकर किसीकी रक्षा न करे या रक्षा करनेमें त्रुटि या गफलत करे तो प्रत्येक सदस्य उस समाजका न्याय द्वारा वाध्य है कि अपने अंशानुसार उस क्षतिका चाहे वह कितनी ही बड़ी हो प्रतिकार करे।

(४) प्रत्येक व्यक्ति सानन्द सामाजिक व्ययका भाग जो उसपर पड़े उठावे व दे, बिना खर्च समाजका काम नहीं चल सकता। बहुधा जितना धन हम देते हैं उसका पूरा बदला हमें नहीं मिलता या मिलता प्रतीत नहीं होता जैसे राज्य शासन स्थैर्यके लिये धन देना। फौजको धन देते हैं पर बदला कभी समय पाकर मिलता है जब वे लड़ने जाते हैं; इससे यह बात नहीं समझनी कि समाजके शासनको कर देना व्यर्थ है। हमें धर्म्म ग्रन्थ बतलाते हैं कि दुःख सहकर परोपकार करो, तो फिर धन देनेका तुम्हें बदला न मिले किन्तु दूसरोंको उसका प्रतिफल मिले तो क्या चिन्ता। जो आज अमीर है कल गरीब हो सकता है व गरीब अमीर। सब हिसाब अन्तमें बराबर हो जाता है। आज हम एक अनाथालयको धन देना व्यर्थ समझते हैं क्योंकि हमारे घरका उसमें कोई खानेवाला नहीं

है पर कौन जानता है कि कल हमारी ही सन्तानको उसकी शरण न लेनी पड़ेगी ।

(५) अपने सहवर्ती देश वासियों या मनुष्य जातिके व्यक्तियों या जीवोंको सहायता देना उनके वृद्धि और दशाको उन्नत करना हमारा नैतिक धर्म्म है । वह भी इसी तरह दूसरेको करेगा यों पारस्परिक सहायताका मार्ग पुष्ट और प्रवाहित होता रहेगा तो सबका ही इसमें भला है ।

(६) प्रत्येक व्यक्तिको उचित है कि समाजके अधिकारियों नौकरों चाकरोंकी निगरानी रखे जहां दोष देखे तुरन्त भण्डा-फोड़ करे और दोषके दूर करनेकी चेष्टा करे । नाटक, समाचार पत्र, पुस्तक और वक्तृताओं द्वारा समाजके दोषोंकी परि-शुद्धिके लिये सर्वथा कष्ट सहकर भी कटिबद्ध रहे । पर हमारा काम निस्स्वार्थ और शुद्ध वुद्धि और मनसे हो, नकि स्वार्थसे या अन्यायसे, लाभ उठानेकी नीतिसे ।

यह तो साधारण बातें हुईं, अब तीन बातें और आवश्यक हैं जिन्हें लिखना उचित जानकर यहां लिखा जाता है । वह यह हैं :—

(१) कान पकड़ी छेरी बनकर आज्ञा पालन करना बहुधा बहुत ही बुरा फल देता है । हम पापिष्ठ शासन धाराकी आज्ञा पालनको बाध्य नहीं है क्योंकि हमें सर्वोपर ईश्वरीय आज्ञाका पालन करना जरूरी है । इसके अतिरिक्त एक अ-न्यायका सहन कर लेना दूसरे अन्यायके निमित्त रस्ता खोल देता है जिससे अत्याचार उत्तरोत्तर बढ़ने लगते हैं और परा-काष्ठाको पहुंच असह्य दुखका कारण होते हैं । अतः यह बात निर्विवाद है कि अवैध्य आज्ञानुवर्त्तीपन सभ्यताकी चाल नहीं है न सभ्य समाजका ऐसा नियम ही है ।

(२) बलात् प्रतिषेध जो एक व्यक्ति किसी सभ्य अधिकारके साथ करता है तो ठीक नहीं करता। दुखदके प्रतिकूल समस्त दुखियोंका मिलकर ही काम करना कृतकार्य्यताका कारण हो सकता है, चाहे परिणाममें शारीरिक बलकी भी शरण लेनी पड़े और भुजाओंकी शक्तिसे ही न्याय प्रार्थना करनी हो तो भी चिन्ता नहीं। पर हमारा कारण सत्य हो। इसीको सभ्य समर कहते हैं। किन्तु इस कामके प्रतिकूल कई कारण हैं उन्हें भी याद रखना उचित है।

(क) हार जीत अनिश्चित होती है। पक्ष विपक्षकी शक्ति पर जय पराजयका आधार होता है। बलिष्ट पक्ष ही जीतता है। दुखद भी दुखितके समान बलिष्ट हो सकता है, नहीं २, प्रायः पहले तो वही बलिष्ट होता है नहीं तो सतानेका साहस ही न करे, पीछे चाहे सत्यका पक्ष कारणके प्रभावसे बलिष्ट होता जाय जैसा सदा होता रहा है। जगतका इतिहास इस बातकी शाक्षी देता है।

(ख) आन्तरिक विद्रोह वा सभ्य समरसे समाजका गठन एकवार छिन्न भिन्न होकर अराजकता फैल जाती है और जो सामाजिक उन्नति प्राप्त हुई है आगेको सरक जाती है और कुछ नष्ट भी हो जाती है, परन्तु थोडे समयके लिये। तो भी यह बड़ी हानि है। ऐसा कोई भी गठन नहीं होता जिसमें सारे दोष ही दोष हों, अनेक अच्छी बातें भी होती हैं जो शान्ति विराजनेपर फिर भी ज्योंकी त्यों बनी रहती हैं या रखनी पड़ती हैं।

(ग) सारे अन्याय व अत्याचारका कारण मनुष्य होता है। न्याय, शासन धारा या गठनका दोष क्या, वह सबतो जड़ हैं, पर हमारी समझमें तो सभ्य-समर भी तिरस्कार करने ही

योग्य है, अच्छी बात नहीं इससे मनुष्यमें दुष्टता बढ़े बिना नहीं रहती। चाहे राज्य बुरेसे बुरा क्यों न हो पर उसके नष्ट करनेकी चेष्टा या कृत्य सर्वथा हानिकर होती है, बने जहां तक संशोधन ही उचित है।

(घ) सभ्य-समर, उन सब महान भयानक दुर्घटनाओंमेंसे जो मनुष्य अपने शिरपर ला सकते हैं, महानतम है। इससे सामाजिक और घरू सम्बन्ध टूटते हैं, सम्पत्तिकी रक्षा भङ्ग होती है, सामाजिक उन्नतियां पीछे पड़ती हैं और मनुष्योंमें घृणा रहित, कभी प्रेम पूर्वक भी अन्याय, अनीति अत्याचार करनेका स्वभाव पड़ व बढ़ जाता है। अतः परमात्माकी यह इच्छा कभी नहीं है कि सामाजिक दोष सभ्य-समर द्वारा दूर किये जायं तोभी मानवी दुष्टतासे यह भयानक घटना होती ही है जिसका रोकना हमारा धार्म्मिक कृत्य है यही कारण है कि वर्तमान फिरङ्गी राज्य अत्यन्त दोष पूर्ण होने पर भी विद्वान भारत निवासी उसके उलटनेको कभी उद्यत नहीं होते सीधे सीधे, सम्मत्तियों द्वारा ही सुधार करनेकी चेष्टा करते हैं और यही ठीक भी है और सुधारकी आशा भी है। किन्तु हमारे पूरे आन्तरिक सामाजिक सुधारके बिना कुछ नहीं हो सकता और जो असमय हमें अधिकार मिलें तो भी हम उसके कुप्रयोगसे अपनी हानि कर बैठेंगे। इस विषयको हम राज नितिज्ञोंके वास्ते ही छोड़ चुके हैं प्रसंग वशात हमने अनुभवी पाश्चात्य विद्वान लोगोंका मत इस जगहपर उद्धृत कर देना ही उचित समझा।

(३) धर्मार्थ दुखका सहना। इसमें हम जो धर्म्मानुकूल यथार्थ विश्वास करते हैं वही करते हैं, अनीतिका विरोध करते हैं, इसनिमित्त सहन शीलताके साथ जो अत्याचारियोंके हाथसे

दुख मिलते हैं उन्हें सहते हैं इसीको अवैध्य प्रतिरोध कहते हैं। कोई कोई इसे कायरता समझते हैं पर यह उनकी भूल है इसमें कई लाभ हैं।

(क) इससे वर्तमान शासनमें जो सद्गुण होते हैं वे सब ज्योंके त्यों रक्षित और स्थिर बने रहते हैं।

(ख) मानवी अन्तरात्मा और बुद्धिसे लगातार प्रार्थना होती है तो अन्तमें सुधारकी आशा अवश्यही होती है। कभी तो अत्याचारी लज्जित हो ही गा, कभी तो उसके अन्तरात्मामें करुणा पैदा होनेका कारण अवश्य उपस्थित होगा अन्तमें मनुष्य मनुष्य ही है नितान्त पशु नहीं है। मनुष्य पर नीतिसे कायल करनेका जो प्रभाव पड़ता है वह शारीरिक बल प्रयोगका नहीं पड़ता।

(ग) इसमें आवश्यकतासे अधिक दुख नहीं निपजता न सार्वभौमिक दुख व अराजकता फैलती है न अशान्तिजन्य लूट खसोट मार धाड़ ही होती है। जहां मनुष्यने अपने दुष्टाचारका परिज्ञान किया कि फिर धीरे धीरे अत्याचार मिट ही जाता है। विरला मनुष्य मरण पर्य्यन्त नर्दय और अन्धा अत्याचारी होकर काम करता है अधिक ऐसे हों तो मनुष्य सामाजिक जीव ही न कहा जा सके।

(घ) सत्यके निमित्त दुःख सहन करनेमें निस्सन्देह यह गुण है कि वह अत्याचारीको अपने कुकृत्यपर विचार, आलोचना व पश्चात्ताप करनेको वाध्य करता है, बदला लेनेसे यह बात जाती रहती है, उलटा बराबरीका विरोध खड़ा होता है। भारतनिवासी जो कटुता, मारधाड़, बम-टम छोड़कर सच्चे अवैध्य प्रतिरोधसे काम लें तो निस्सन्देह दो वर्षमें इनके दुख दूर होजायं नहीं तो इङ्गलैण्डीय इतिहासकारा समय

यहां भी आवेगा और ईश्वरके निर्दोष दासोंका असीम रक्त-पात होगा जिसका अपराध आर्य्य और वृटिश दोनों जातियोंके गरदनपर होगा। परमात्मा वह बुरा दिन न दिखावे कि भारतनिवासी अपने पैत्रिक स्वभाव और प्रथा, चालचलन व रीति-नीतिको छोड़ पाश्चात्य इतिहासका अनुकरणकर सांसारिक पदार्थोंके लिये नरहत्या करें करावें। हां अत्याचारको समर्थन करना महापाप और अत्याचारोंका अवैध्य प्रतिषेध विना सहन करना कायरता है। देश-प्रेम धर्म है, परन्तु विदेशद्रोह पाप है, चाहे स्वदेशद्रोहसे कम गुरुतर क्यों न हो पर है पाप।

(ङ) अवैध्य प्रतिरोध, सहनशीलता, और बुद्धिसे मानवी प्रीतिपूर्वककाम लेना प्रतिपक्षके घमण्ड और दुष्टताको निश्शस्त्र कर देता है, दया सहानुभूति, प्रेम और लज्जाको उत्पादन करता है। अतः इससे मनुष्यका सुधार होता है। क्योंकि हमारा अनुभव और इतिहास बता रहे हैं कि जो काम बलि होनेसे हुआ है वह समर व पर-वलि करनेसे नहीं, जहांतक सभ्य स्वत्व प्राप्तिका सम्बन्ध है।

ऐसा बहुत कम देखा गया है कि सभ्यसमरसे सच्चा स्वातन्त्र्य प्रेम न घट गया हो। यह बात इङ्गलैण्डके प्रथम चारलेसके समयमें हुई। वहां सभ्य-समरके कारण स्वातन्त्र-प्रेम कितना घट गया था यह बात इतिहासवेत्ताओंसे छिपी नहीं है। इसीसे तो क्रामवेलने तुरन्त असीम बल प्राप्त कर लिया और दूसरा चारलेस वाहवाहीके साथ पुनः सिंहासनासीन हुआ और जातिपर अत्याचार हुए। परन्तु उसके अत्याचारी शासनकालमें अन्तरात्माका सशान्ति दुख सहन करना देश-भक्तिके पुनरुज्जीवनका कारण हुआ और उसके भ्राताको पद-

च्युत करके फिरङ्गी स्वतन्त्रताकी अड़ग नीव हिमालयी चट्टान पर पड़ी।

(च) सुतराम् प्रत्येक मनुष्यको किसी देश, राज वा वंशका क्यों न हो जान रखना चाहिये और विचार करनेसे जान सकेगा कि यही राह मुख्य और महान् प्रतिष्ठित नीति की है। दासत्व प्रेम कमीने हृदयमें भयसे पैदा होता है और विरोध पीछे धृष्टपनके घमण्डसे या विप्लवकी दुर्वासनासे उपजता है। परन्तु अवैध प्रतिरोध और सत्य व धर्म्मके निमित्त दुखका सहना अत्याचारकी घृणा न्यायकेप्रेम, देशभक्ति और ईश्वर-भक्तिसे प्रादुर्भूत होते हैं। जहां न्याय व स्वतन्त्रताके निमित्त दुख सहन करनेकी इच्छा व शक्ति नहीं, जहां वलिदान होनेका वल नहीं वहां देशप्रेम, स्वातन्त्रप्रीति न्याय व धर्म्मके स्थिर रखनेकी सच्ची व पूरी वान्छा होही नहीं सकती। सभ्यता और मनुष्यभक्तिका चिन्ह ही वलि है इसके आगे सारा बल, सारा विरोध, सारी चातुरी, सारी प्रबन्ध-दक्षता सारी घड़ेबन्दी और मरदानगी धूल हैं।

हमारे उक्त कथनसे दोनों चरमपन्थी नरम हों वा गरम सब स्यात सहमत न होंगे क्योंकि अन्य देशोंके भी राजनीतिज्ञ इस विषयमें सहमत नहीं है, हां, मैंने जहांतक प्राच्य व पाश्चात्य इतिहास व नीतिकी पुस्तकें देखी हैं मेरा यह दृढ़ अनुमान है।

हमने कई कारणोंसे यहां पाले, मेकपटाश, हूवल प्रभृति लेखकोंकी सम्मतियां नहीं दीं ना प्राच्योंके ही भाव राज-विप्लव सम्बन्धमें लिखे हैं क्योंकि हमारा विषय विशुद्ध राजनीति नहीं है।

मण्डल चौथा।

अनुवाक १

"परोपकार।"

जहां पारस्परिकत्व न्याय हमारे अन्तर्गत है, वहां परोपकार भी है। जो कहें कि परोपकारका नियम व्यर्थ है, तो यह ठीक नहीं क्योंकि नीति व धर्मका सबसे बड़ा सुखप्रद अङ्ग तो परोपकार ही है। इसके प्रमाणमें कि क्यों हमें परोपकार करना परमावश्यक है; हम यथा शक्ति मानवी गठन, धर्म्म ग्रन्थ और पारस्परिकत्वके आधार पर दिखलावेंगे कि परोपकार बुद्धि मनुष्य जीवनके लिये अनिवार्य्य है।

(१) प्रथम तो हमारा गठन, संगठन व हमारी स्थिति इस जगतमें ऐसी है कि हम दूसरोंके उपकारपर निर्भर होते हैं या हमारा जीवन ही दूसरोंके उपकारसे अवलम्बित है। हम सब ही रुग्न होते हैं क्योंकि रोग ग्रहण-शीलता हममें स्वाभाविक है। रोगी होनेपर हम कैसे बेवश, नितान्त अनुपचार और पराधीन हो जाते हैं जो दूसरे हमपर दया न करें तो हमारा शरीर ही नष्ट हो जाय। हमारा धीरे धीरे वृद्ध होना भी एक निश्चित घटना है, बुढ़ाई बाल्यावस्थाकी भांति विवश करनेवाली प्रत्यक्ष ही हम अनुभव करते हैं। जो मनुष्यमें धर्म या नीतिके लिये परोपकार न हो तो सारे ही बालक बुड्ढे विनष्ट हो जायं, कोई भी उनकी सुध न ले। अनेक वाह्य घटनाएं हम पर रोगोंकी भांति आ पड़ती हैं उनसे भी हमें यही शिक्षा मिलती है। फिर यह दुनिया मृत्युके व्याधिसे जकड़ी हुई है, अनेक दीन, विधवा, अनाथ, निस्सहाय होना निर्विवाद है। जब कि परमात्माने उनके सहायकोंको

उठा लिया तो फिर उन्हें उन्हींके हाथोंसे सहायता ढूंढ़नी पड़ती है, जिनपर उनका पारस्परिक न्यायसे तो कुछ जोर या दावा नहीं। अब क्या हमारा यह कथन सिद्ध नहीं होता कि हमारा गठन, संगठन और हमारी स्थिति हमें बाध्य करती है कि हम पारस्परिकत्वके साथ साथ परोपकारकी नीतिसे भी काम लें, नहीं २—वरन अधिकतर इसीसे काम लें।

(२) इस सहायतामें शारीरिक बलकी ही सब जगह आवश्यकता नहीं होती, बहुत सी मानवी सुख सुविधा नैतिक बुद्धि और समझके ही आश्रित होती हैं। प्रायः ऐसा देखते हैं कि जिनमें यह साधन नहीं हैं वह इसके महत्वको भी नहीं समझते इसीसे सदाके लिये इनसे वञ्चित ही रह जाते हैं और यदि चतुर पुरुष उनके हानि लाभका यथार्थ ज्ञान करानेकी चेष्टा न करें तो वे और भी मन्दावस्थाको गिरते चले जायं।

अब जब कि हम स्वयं अपने ज्ञानजन्य सुखोंके लिये दूसरोंके ऋणी हैं—चाहे यह ऋण प्रत्यक्ष और मिला हुआ हो वा दूर, पर हम ऋणी अवश्य हैं—तो हमारा कर्तव्य हुआ कि अपनी कृतज्ञता इसके निमित्त प्रकाश करें और इस कृतज्ञताके प्रकाशका एक मात्र उपाय यही है कि जिन वरदानोंका हम सुख भोग रहे हैं उन्हें उन लोगों तक भी पहुंचायें जो इनसे वञ्चित हैं क्योंकि इसी बुद्धिसे तो हमें भी किसीने ज्ञानकी उन्नति कराई थी। हम चाहे अपने उपकारकके उपकार भारको पूरा न चुका सकें, उसके बदलेमें उसके साथ प्रत्युपकार न कर सकें पर सदा जो हमसे कम सुखी हैं उनका सुख साधन करते रहें तो हम बहुत उत्तमताके साथ अपनी जाति (मनुष्य जाति) के सुख व सुविधामें अधिकोधिक उन्नति कर सकते हैं।

(३) प्रत्यक्ष है कि यह भार ईश्वरने हमारे ऊपर डाला है किसी मानवी हाथमें यह समर्थ नहीं कि इसका प्रतिवाद वा

खण्डन करे या इसमें कुछ भेद भाव डाल सके। हम परोपकार नीतिसे वाध्य है कि परोपकार करें और जिसके साथ हम उपकार करते हैं उसके चाल चलन व्यवहारका विचार न करें। कुछ बात नहीं जो उपकारपात्र कृतघ्न, दुष्ट या हानिकर है क्योंकि इन दोषोंके कारण हमारे ऊपर परमात्माने जो परोपकारका दायित्व डाला है वह न बदलता है न कम होता है, किन्तु दायित्व बढ़ जाता है अर्थात् उसके आचारका सुधार करना भी हमारा कर्तव्य हो जाता है। अतः सर्वथा हमें उचित है हम आपको शासित रखें और यह आत्मशासन उन वर्तावोंके लेखे न हो जो हमारे साथ किये गये हों वरन उन नियमानुसार हों जो परमात्माने हमें बतलाया है कि तुम इसके अनुकूल अन्योंके सम्बन्धमें चलो और अपना प्रत्येक कार्य्य परोपकार बुद्धिसे ही करो।

स्वयं सिद्ध बात है कि बहुत सी नेकियां जो मानवी स्वभावके अत्यन्त ही उपयुक्त हैं उसी समय काममें आती हैं जब दूसरोंकी दुष्टताएं, उनके अधःपात या उनके क्लेश उनकी (नेकियोंकी) आवश्यकता पैदा करते हैं। जो यह क्लेश और दुष्टता न हों तो दया और करुणा कैसे पैदा हों? जो कोई हानि व हानिकर न हो तो सन्तोष नम्रता और क्षमा कहांसे जाने जांय। यही बातें हैं जो हमें इस जगतमें इस जीवनको परम पूरिपूर्ण नीतिज्ञ बना सकती हैं।

यह बातें हमें वैदिक शिक्षामें अच्छी तरहसे व्याख्या सहित मिलती हैं।

(क) जो तोको कांटे बवे ताहि बोय तू फूल।
तोहि फूलके फूल हैं ताको हैं तिरशूल॥

(ख) परोपकाराय सतां विभूतयः (ग) अहिंसा परमो धर्म्मः इत्यादि तो सामान्य रात दिनके सुनने व कहनेके वाक्य

हैं जो आधुनिक कवियों विद्वानोंने कहे हैं अब हम वैदिक उदाहरण देकर दिखलाते हैं कि हमें वेद और उपनिषद् क्या शिक्षा दे रहे हैं :—

(प्रथम तो जानलें कि परोपकार वह है जिससे जीवोंके दुख घटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़ें) 'परमात्माके गुण कर्म और स्वभावोंको जानते हुए उसकी उपासना करो' कौन नहीं जानता कि परमात्माका प्रत्येक काम हमारे ही उपकारके लिये हैं वह इतना परोपकारी दयालु है कि अपनी अवज्ञा करने हारे नास्तिकोंका भी बराबर पालन करता है। वेदोक्त धर्म विधिका रहस्य इतने हीमें जान पड़ता है कि वह परोपकार ही परोपकारको अपनी नीव मानता है। समानो मन्त्रः इत्यादि ऋ० अ० ८ अ० ८ ४९। म० ३ व म० ४

पुनः दृते दृंहमा मि त्रस्यमा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षा महे ॥ ५ ॥ य० अ० ३६ मं० १८ (दृते०) हे सर्व दुखोंके नाशक परमात्मा आप ऐसी कृपा कीजिये कि हम सब आपसमें बैर भावको छोड़ प्रेमसे परस्पर वर्तें। (मित्रस्यमा०) सब प्राणियोंको अपना मित्र जान बन्धुवत वर्तें। सत्य धर्माचरणसे सत्य सुखोंको बढ़ावें। इत्यादि। सार यह कि (सङ्गच्छध्वं) को लेकर जो पहिले भागमें कह आये हैं और उक्त मन्त्रोंको पढ़नेसे धर्मके लक्षणका यथावत बोध होजाता है। और यज्ञोंका विधान जहां जहां वेदोंमें है वह सब परोपकारार्थं ही कर्मोंके अनुष्ठानका बोधक है। यज्ञ विहीन कोई वैदिक क्रिया नहीं। यज्ञ परोपकाराय आत्मोत्सर्ग, धनादिके उत्सर्ज्जनका ही नाम है अतः वैदिक मतका मूलाधार ही परोपकार है। इस विषयमें अधिक देखनेकी इच्छा

रखनेवालोंको महर्षि स्वामी दयानन्द लिखित सत्यार्थ प्रकाश, वेद भाष्य भूमिका और ऋक व यजु० भाष्योंको देखना चाहिये। यहां हमें इतना ही कहना अभीष्ट था कि परोपकार करना ईश्वरकी आज्ञा है। कोई भी धर्म भूमण्डलमें ऐसा नहीं जो परोपकारको ईश्वरीय इच्छानुकूल न प्रतिपादन करता हो।

ऋ० अ० १ अ० २ व० ३ मंत्र ३ में परमात्मा उपदेश करते हैं कि "ता मित्रस्य प्रशस्तय इन्द्राग्नी ता हवा महे। सोमऽपा सोम पीतये" लुप्तोपमालंकारिक वाक्यमें हमें उपदेश मिलता है आदेश होता है कि सब मनुष्य मित्र भावसे परस्पर उपकारके लिये विद्यासे समस्त भौतिक पदार्थों से काम लेते हुए उन्नति करें। अर्थात विना परोपकारके (Benovolence) उन्नति होती ही नहीं इस तरह आगे इसी व० के मन्त्र ८ में भी परोपकार और मिलकर रहनेका उपदेश श्लेषालंकारमें वर्णित है।

फिर (१) देखिये जैसा हमने ऊपर कहा परमात्मा स्वयं कैसा परोपकारका भाण्डार है और हमें कैसा उत्तम उपदेश देता है कि तुम हमारे गुण कर्म स्वाभावानुसार अपने गुण कर्म व स्वभावको बनाओ यही हमारी सच्ची उपासना है। इससे हमें दीनों हीनोंपर दया व दुष्टोंपर क्रोध (परन्तु दया युक्त क्रोध सुधारनेकी नियतसे क्रोध) करना चाहिये।

(२) परमात्मा हमपर दया करते हैं, हम उनकी सब प्रजाको प्राण प्रिय जानें, नहीं तो हम सर्वशक्तिमानके हाथोंसे अदण्ड न बचेंगे।

(३) जो ईश्वर-हमारी छोटी छोटी चिन्दी मिन्दी निकालने लगे तो हमारा एक दिन क्या एक क्षण भी गुजर नहो

फिर हम ऐसी तुनक मिजाजी और कठोरता दूसरे जीवों पर क्यों करें जो अनीश्वरी या आसुरी प्रकृतिका काम है।

(४) प्राचीन वेद मन्त्र द्रष्टा महर्षियों और मुनियोंका आदर्श लेकर काम करना अथवा मध्य समयके भगवान बुद्ध, भगवान जिन, भगवान कृष्ण, भगवान राम आदि महापुरुषोंके आदर्श लें। बहुत हालमें देखें तो स्वामी शङ्कर व स्वामी दयानन्दके चलनका आदर्श हमें लेना चाहिये।

अनुवाक २

दुखियोंके प्रति दया।

मनुष्यके दुख दोही प्रकारके हुआ करते हैं शारीरिक अथवा मानसिक। साधारण निर्धनता या आवश्यकता अथवा जीवनकी सुविधाकी चीजोंका अभाव व रोग या अन्य शारीरिक अयोग्यता आदि दुःखके कारण हैं। जब निर्धनताके साथ रोगादि भी आ मिलते हैं तो दुःख गुरुतर हो जाता है।

१—गरीबी। साधारण निर्धनता या जरूरत किसी मनुष्यको उस दशामें दानका उचित पात्र नहीं बनाती जब कि वह अपने पालन-पोषणके लिये यथेष्ट श्रम करनेकी सामर्थ्य रखता है। जो आलसी होकर काम नहीं करता उसको खाना भी न चाहिये। जो आलसी और सुस्त हैं उनके वास्ते सबसे उत्तम शिक्षा ही यह है कि वह निर्धनताजन्य दुखोंका खूब स्वाद चखें। इनके प्रति समाजके लोगोंका मात्र इतना ही कर्त्तव्य है कि इन्हें काम दें और कामका उचित दाम दे दिया करें। इससे अधिक दायित्व समाजपर इस सम्बन्धमें दूसरा नहीं।

(२) कभी कभी अदृश्यवश मनुष्य ऐसा विवश होजाता है कि उसका श्रम उसके पालनपोषणको यथेष्ट नहीं होता जैसे विधवा व अनाथ बच्चे। यहांपर हमें दया और दानकी आवश्यकता प्रत्यक्ष दीखती है। जो व्यक्ति अदृश्यवश आत्म सहाय्य व आत्मरक्षामें असमर्थ हैं उनकी सहायता करना हमारा कर्त्तव्य है और उनका स्वत्व भी है, वे हमारे दान व दयाके पानेके व हम देनेके अधिकारी हैं।

३—रोग। रुग्नावस्थामें आत्मावलम्बशक्ति छिन जाती है और मनुष्य अपनी आवश्यकताओंके आप उपार्जन करनेमें असमर्थ होकर हमारी सहायताका मुंह तकनेवाला होजाता है। इस दशामें धनिकोंका काम होता है कि बारम्बार दुखियोंकी सहायताके लिये उदारतापूर्वक सहायक हाथोंको उठाते रहें दुष्ट स्वार्थी निर्दयी होकर न बैठें, दुखियोंके साथ सहानुभूति दिखलावें उनकी सेवा करें। यदि गरीब, रोगग्रसित भी हो, तब तो यह कर्त्तव्य और भी अधिक जरूरी होजाता है। यहां ही धर्माधर्म बुद्धिकी जांच होती है। कौन जानता है जो आज दम्भी, निर्दयी, धनवान है कल दीन-हीन परहस्तापेक्षी न होजायगा फिर उसको अपनी दुर्नीति याद आयेगी। इसीसे परोपकारनीति समाज-रक्षाकी जड़ है—पर परोपकार हो। अन्धेपनसे अनधिकारी हरामखोरोंको नामके वास्ते वा वैकुण्ठकी खरीददारीके लिये धनका दिया जाना महापाप है।

४—आयु। बुढ़ाई सबको ही आती है और बुढ़ाई हर-तरहकी शारीरिक बेबसी अपने साथ लाती है अतः हमारा धर्म है कि वृद्धोंकी जितनी सेवा, टहल, व सहायता हमसे बने प्रसन्नमन होकर अपने भाग्यको सराहते हुए करें। वृद्धोंका स्वभाव बच्चोंकासा चिड़चिड़ा, कभी बेसमझ भी होजाता है

उस दशामें जिस प्रेमसे हम बच्चोंका नखरा उठाते हैं ठीक उसी प्रेमसे बुड्ढोंकी भी नाज बरदारी करें यही हमारा धर्म है।

हमारी समझमें तो यही मुख्यमुख्य दशाएं हैं कि जिनमें मनुष्यकी शारीरिक अयोग्यताके कारण हमें उनकी सहायता करनी चाहिये। अब हमें देखना है कि किन सिद्धान्तोंपर हमारे परोपकारी काम क्रमित हों जिनका लाभप्रद प्रभाव दाता और प्रतिग्राही दोनोंपर ठीक ठीक पड़े।

(१) हमारे गठन व स्थितिसे यह तो प्रकट ही है कि जो कुछ ईश्वर हमें प्रदान करता है हमारे श्रमका—पूर्वश्रमका-फल होता है अग्रिम (पेशगी) नहीं। मनुष्य जो पाता है उसका बदला उसे पहले ही दे देना पड़ता है पीछे नहीं। यह सार्विक (Univresal) नियम law है। नैतिक अथवा शारीरिक चाहे किसी विषयमें क्यों नहो, यही नियम काम करता मिलेगा हमको थोड़ा सोचकर देखना ही दरकार है। विना जोते बोए कौन लुनता है ? वे पढ़े कौन पण्डित हुआ है ? इत्यादि बातें प्रत्यक्ष हैं।

अब ऐसा सार्विक नियम विना उत्तम व सार्विक कारणके पूर्ण ज्ञान परमात्मा कब बना सकता था ? कभी नहीं इसीसे हमें अनुभव (तजरुबा) बतला रहा है कि श्रम (शारीरिक श्रम) मानवी स्वास्थ्य व सम्पत्तिके स्थैर्यके वास्ते आवश्यक है क्योंकि वह नैतिक, सचेत, बुद्धिमान और भौतिक शरीर धारी प्राणी है। यह नियम स्वयं सिद्ध है कि अमीर गरीब दोनों पर समान ही काम करते हैं। इसीको दूसरी तरह पर देखें अर्थात सोचें कि या तो श्रम भलाई है या बुराई (Blessing or curse)। जो बुराई है तोभी जो परमात्माने दिया है उसमेंसे हम अपने हिस्सेका कष्ट उठानेसे पर्यों हटें और बुराईको अपने

अंशानुसार क्यों न स्वीकरें जो भलाई है तो भी कोई कारण नहीं कि सब आदमी उसे बांट कर क्यों न भोगें। अतः हमारा परोपकार इस साधारण सर्वव्यापी नियमानुकूल जो हमारे गठन व स्थितिके नसनससे सम्बन्ध रखता है, होना चाहिये।

(१) जो निर्धन है, पर अपने श्रमसे अपनी आजीविका करनेके योग्य हैं उन्हें श्रमोपजीवी होनेमें सहायता देनी चाहिये अर्थात उन्हें काम जुहा देना उन्हें काम करनेका रस्ता बतला देना हमारा काम है कि जिससे वह श्रम करके अपनी रोटी कमाए सिवा श्रमके और कोई दूसरी बात न होनी चाहिये। जो कोई श्रमसे जी चुराता है तो वह अपनी दुष्कृत्तिका फल भोगे हम क्या कर सकते हैं।

(२) जो काम करके अपना पालन नहीं कर सकते क्योंकि उनमें इस बातकी क्षमता या योग्यता ही नहीं है उन्हें हम उस अयोग्यताके अनुसार सहायता दें अधिक नहीं शेष वह क्यों न करें नितान्त निष्क्रय होकर क्यों बैठें। हां जो कुछ भी नहीं कर सकते उनको पूरी पूरी सहायता होनी चाहिये जैसे बालक, रोगी, अपङ्ग और वृद्ध।

परोपकार इस वास्ते है कि प्रापक मनुष्य पर उसका उत्तम नैतिक प्रभाव पड़े, दया, कृतज्ञता और सार्वभौमिक परोपकार बुद्धि मनुष्यके प्रत्येक वर्ग व समहमें भलाईके लिये फैले। वही ढंग दान व दयाका उत्तम होता है जो उसके असली अभीष्टको पूरा करे और अत्यन्त उच्च श्रेणीकी स्वाभाविक दया और कृपाके भावका विस्तार करे आलस्य हरामखोरी व कदाचारको न बढ़ावे। अतः हमें उचित है कि जो उपकार हम करें जहांतक बने स्वयं अपनी आंखसे देखकर अपने हाथोंसे करें न कि दूसरोंको बेपरवाहीसे सौंप

दें कि हमारी ओरसे वह इस कामको करे। पानेवालेकी कृतज्ञता बहुत कम होती है, यद्यपि उसकी आवश्यकता पूरी हो जाय, जब तक कि वह उस दिल व स्वभाव व भावको न देखे जिससे यह उपकार हुआ है।

दाताओंके लिये भी सिद्धान्त है, जो दान दाताकी भी नैतिक बुद्धिको उन्नति देता है उसी ही उचित दान करनेको धर्म्मशास्त्र अनुरोध करते हैं और धर्म्मका अङ्ग मानते हैं।

(१) वही दान प्रणाली सर्वोत्तम है जो धर्म्मकी प्रत्यक्ष प्रेरणासे आत्म चमत्कार, आत्मोत्सर्ग और हार्दिक प्रेमसे हो, सच्ची दया सहानुभूति, ईश्वर प्रेम मनुष्य प्रेम और परोपकार बुद्धिसे किया जाय। जो इन गुणों और कारणोंसे विहीन दान दुखीके दुखको हटाता है वह सत्रुटि दान जानना चाहिये।

(२) प्रायः दान जो बिना विचारे दुष्टों, आलसियों, हरामखोरों, ढोंगियों, ठगोंको पहुंचता है महान पाप और दुर्नीति फैलानेका कारण होता है। भारतमें दानका भाव और अर्थ आजकल बहुत बिगड़ा हुआ है जिससे देशका बहुत बड़ा अधःपतन देखनेमें आ रहा है।

(१) आलसी, हरामखोर, सन्डे मुसन्डे साधूबने फिरते हैं हरामका खाते हैं और मूर्खता आलस्य व बदमाशी फैलाते हैं इन्हें मजूरी बतलाना चाहिये औपकारिक दान देना पाप है। जो कोई कहे कि हम ईश्वर भजन करते हैं तो वह अपने मुक्तिका साधन करता है आप कमाए व खाये हमपर उसका क्या हक? जो विद्वान तप व विद्या सम्पन्न हमें उपदेश करता फिरता हो वह अलबत हमारी दया व दानका पात्र है!

(२) तीर्थों के पण्डे, पुजारी और पेशेदार भिखमंगे सब ही देशका नाश करने वाले दुष्ट हैं इन्हें दान देना घोर पाप है जिसके कारण भारत पतित होता जारहा है ।

(३) हमलोग कसाईयोंको जो गायोंके अंगपर दूसरे बछड़ोंके अवयव फाटकर जोड़ देते हैं और नन्दी कह कर दान मांगते फिरते हैं, दान देते हैं क्या यह पाप नहीं है ।

(४) अनेक डाकू, चोर, सरकारसे छिपे हुए दुष्ट हमारी इस अन्धी दान-प्रथाके सहारे अपना काम बनाते हैं कौन कहेगा कि यह अच्छा दान है ?

गरीबोंके सहायता भाण्डार जो हम राजकीय गठन वा सामाजिक गठनसे बनाते हैं हर तरहसे बुरे हैं सिवा अकाल और दुर्भिक्षके ।

(१) गरीब होनेहीके कारण हमारे दयाका पात्र कोई नहीं हो सकता न उसका स्वत्व हमारे दानमें दमड़ी भर भी पैदा होता है ।

(२) मनुष्यको आत्म सहाय्य व स्वावलम्ब सिखाना हमारा धर्म्म है इसके विरुद्ध स्वाभाविक स्वावलम्बकी उत्तेजनाको भङ्ग करने वाले काम कब धर्म व उपकार हो सकते हैं ।

(३) इस अन्ध दानसे हरामखोर, भिखारी और आलसी बढ़ते हैं दुराचारकी वृद्धि होती है । देखो भारतसे अधिक भिखमंगे हरामखोर किसी देशमें नहीं हैं । यहां भिखमंगोंकी बड़ी भारी जाति, एक बड़ा रोजगार जान एकमहान सम्प्रदाय बनगई है भिखमंगे अपनेको सर्वोत्तम जीविका वाले पूज्य समझते हैं क्या यह देशके डूबनेके लक्षण नहीं हैं ? सरकारकी मारफत दान देना मूर्खता है अपने हाथसे अपनी बुद्धि व आखोंसे

काम लेकर दान देना चाहिये, अकालोंमें जो रुपया एकट्ठा होता है उसमेंसे बड़े बड़े पेटके नौकर तनखाह भत्ता आदिके नामसे कभी कभी अधमंसे भी रुपयेमें बारह आना हकार जाते हैं जिसके वास्ते धन दिया जाता है उन्हें चार आना भी मुश्किलसे पहुंचता है सोभी प्रेमके साथ नहीं बरन धमकी, भय और तिरस्कारके साथ, इससे हमारा निजका अनुभव बताता है कि जो सरकारके द्वारा दान देता है मूढ़ है। चतुर वह हैं जो अपने धनसे सिद्धान्तानुकूल अधिकारियोंकी सहायता प्रेम और प्रतिष्ठाके साथ आप करते हैं।

(४) अनुचित दानसे दाताके प्रति पाने वाला कृतज्ञ नहीं होता।

(५) नैतिक सम्बन्ध, देने व पाने वालेमें क्रिया विहीन दानसे, पैदा नहीं होता।

(६) जो सरकारकी मांगपर, दबावसे, या नामके लिये धन देते हैं वह सात्विक दान नहीं है, जबरदस्तका ठेंगा है जो सिर पर ही रहता है, और पथा हो।

अन्तमें गरीबोंको दान देना पापका मूल है, यदि गरीबी मात्र ही उन्हें दानका पात्र बनाती हो, तो उन्हें दान न देकर काममें लगाना अच्छा है जिससे श्रमी, चतुर आरोग्य और कमाऊ बनें और उनका जी भी लगा रहे।

(७) हम कह चुके हैं कि अनाथों, दीनों, रोगियों, बूढ़ों, बेवशोंको अवश्य दान देना चाहिये और प्रेमसे, उदारतासे, लज्जासे, भयसे, प्रतिष्ठासे खूब दान देना चाहिये चाहे आप कष्ट भी पावे पर इनका कष्ट निवारण करे यही दानके मुख्य-पात्र हैं। हरामखोर, योगी, सेवड़े, सन्यासी, और, बनावटी पंडे, पुजारी, नट, कंजर लोग दानके पात्र नहीं होते।

बड़ी बड़ी सभाओं या दानकी समितियों द्वारा दान बहुधा बुरा होता है। एक व्यक्ति जब दूसरेके कष्टको निवारण करता है तब जो भाव दोनोंके मनमें होता है वह सदाबर्तों व लंगर खानों व सरकारी या समितियोंके दानोंमें कभी नहीं देखा जाता। न दाताके हृदयमें दान पानेवालेपर दयाका भाव ही बढ़ता है न पानेवालेमें यथेष्ट कृतज्ञता ही होती है। बहुधा ऐसी जगहों पर दान पाने वाले लड़ते, झगड़ते, कुढ़ते, व गाली देते देखे जाते हैं। नौकरोंके हस्ते दान देना तो भूल है ही, बिना अपने निज हाथोंके दूसरी सभी तरह दान देना कम श्रेयस्कर होता है।

अनुवाक ३

चातुर्य्य सुख।

समाजकी शिक्षित अवस्थामें थोड़ी सी विद्या मानवी जीवनके लिये अनिवार्य्य आवश्यक चीज है। जो विद्या विहीन है बहुतसे सुभोगोंसे वञ्चित रह जाता है और भोले पनसे ठगोंके जालमें जल्दी फंस रहता है और अपनी वृत्तियां पाशविक बना डालता है।

पढ़ना सीखकर मनुष्य उस भाषाकी सारी विद्याको पासकने योग्य हो जाता है, लिखना जान लेनेसे जहां वह शरीरसे नहीं पहुंच सकता वहां भी काम कर सकता है, और स्वविचारोंसे दूसरोंको भी लाभ पहुंचा सकता है। गणित जाननेसे परस्पर व्यवहारमें ठीक ठीक रह सकता है दूसरोंके लेन देनकी सफाई और सचाईको जाननेमें समर्थ होता है।

इतना जानना जितना अनिवार्य्य आवश्यक है, उतना शेष विद्याका महान ज्ञान अनिवार्य्य नहीं होता। आदिम

शिक्षा पितृगण देते हैं, वेदोंकी अधिक शिक्षा जो वे बालकोंको न दे सकें तो उसका प्रबन्ध समाजसे होना उचित है यह महान प्रशस्त दान है 'सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानम् विशिष्यते' और ऐसे दानोंका प्रबन्ध राजकीय शिक्षा विभाग द्वारा होना और दानोकी तरह अनुचित नहीं वरन परम उपयोगी होता है यदि विशेष कारण इसके प्रतिकूल किसी देश व जातिमें बाधक न हों।

राज्य कोषके सिवा इस काममें व्यक्तियोंको दान देना चाहिये और स्वतन्त्र संस्थाएं भी विषय विशेषकी उन्नतिके अर्थ रखनी उचित हैं। ग्राम ग्राममें एक राजके प्रबन्ध गत दूसरी प्रजा-तंत्र पाठशाला हों, सबग्रामोंके ऊपर जो जिला हो वहां इनकी उपकेन्द्रिक वहत शालाएं हों और कई जिलोंपर एक दो अथवा चार, मनुष्य संख्याके अनुसार, महा विद्यालय हों और सबका परीक्षक केन्द्र विश्वविद्यालयके प्रत्येक प्रान्तमें एक तो सर्व विषयक हो, बने तो एक एक विषय विशेषके भी विश्व विद्यालय हों जैसे गणित, तर्क, दर्शन, नीति विज्ञान प्रभृति। अनेक विद्याओंको एक साथ पढ़नेसे वह नैपुण्य नहीं होता जो एकके ही पढ़नेसे, अतः जो एक ही शाखामें दक्षता प्राप्त करना चाहें उनके वास्ते अलग अलग विषयके भी विश्व विद्यालय हों। किसी प्रान्तमें कोई और किसीमें कोई इस तरह सब प्रान्तोंमें मिलाकर सब विद्याओंके विश्वविद्यालय देशमें हो जायं और एक एक साधारण वि० वि० सबका समाहाररूप साधारण ज्ञान दिलानेको रहे।

इस सम्बन्धमें जो दान दिया जाय वह इस सिद्धान्त पर हों :—

(१) पाने वाला उचितसे अधिक न पावे क्योंकि वह भी तो अपने अभीष्ट सिद्धिके लिये कुछ श्रम करे नहीं तो हरामखोर बनेगा ।

(२) उधार रुपया देकर पढ़ाना अच्छा है दान देकर पढ़ाना इतना अच्छा नहीं होता ।

(३) इस प्रकारके दान या उधार देनेमें पूरा पूरा विचार कर लेना चाहिये, अन्धाधुन्ध काम न होना चाहिये ।

दान ऐसा हो जो दोनों पक्षोंमें भलाईके भाव पैदा करे और देश व समाजकी अभीष्ट सिद्धि हो, श्रमी व योग्य व्यक्तियां गर्वित व फलित होती चली जायं । राजकीय व सार्वजनिक (Public & private) दोनों निरीक्षण साथ ही साथ होते रहें जिससे दान अनुचित हाथोंमें न जाय, व्यर्थ न हो और अभीष्ट प्रद हो । दान ऐसा हो जिसे आलसी, अनधिकारी, सम्पन्न लोग लेनेको उत्तेजित न हों और अधिकारी, श्रमी और निर्धन लोग लेनेसे घृणा व लज्जा भी न करें । कभी कभी पारितोषिक व छात्र वृत्ति देते हैं वह इस दानसे भिन्न उत्साह प्रदानार्थ दान होता है इसमें पानेवालेकी योग्यता ही केवल कारण होनी चाहिये ।

विज्ञान वृद्धिको जो श्रमालय या वैज्ञानिक महाविद्यालयादि बनते हैं उनमें जो धन दिया जाता है परोपकारिक दान नहीं क्योंकि उससे देशके सर्व २ को लाभ पहुंचता है वह दान आत्मोपकारी दान है । जितना शिक्षाका व्यय घटेगा, शिक्षा सस्ती होगी, जितने अधिक श्रमालय, परीक्षागृह, पुस्तकागार अधिक होंगे उतनी ही जल्दी देश उन्नति करेगा अर्थात् हमारी उन्नति होगी सब

विचारसे उच्च शिक्षाके निमित्त धन देना धनिकोंका परम कर्त्तव्य है ।

अनुवाक ४ ।

"दुष्टोंके प्रति उपकार ।"

दुष्ट अपनी स्वाभाविक स्थितिसे ही दुखी रहता है वह स्वयं अपनेको धर्मजन्य सुखोंसे वञ्चित कर लेता है व करता रहता है । वह उन सम्वेगोंको (passion) वलिष्ठ कर लेता है जो प्रचण्ड बलवत्तम होकर उसे सताते हैं और कभी तृप्त नहीं होते, अतः वह अपनी दुष्टताका बुरा फल इस संसारमें भोगता है ।

दुष्ट भी हमारी करुणा (pity), प्रेम व परोपकारका भागी है, लेकिन दुष्ट स्वभावसे ही हमें घृणित व अप्रिय होता है और दुष्टता तिरस्कृत होनी ही चाहिये, इससे उसके विषयमें हमारे भाव मिश्रित होते हैं—उसके दुखसे दुखी, उसकी मूढ़तापर करुणापूर्ण और उसकी धृष्टतापर क्रुद्ध व उसके सुधारकी चिन्तासे गम्भीर । परमात्मा वर्षा करता है तो भले बुरे दोनों ही के खेत सिंचते हैं, इसी तरह हमें दुष्टोंपर भी दया करनी उचित है पर सुधारकी बुद्धिको लिये हुए हमारे काम हों । जुआरी भूखा हो, रोगी हो या बेपढ़ा हो या और तरह अयोग्य हो तो काममें लगायें इतना ही दें जो उसके पास जुआके लिये पैसा न रहे अच्छी सङ्गतमें उसका अधिक समय व्यतीत करनेवाला काम सोचकर देवें, इत्यादि, इत्यादि । हमें बुरोंको भला बनाकर छातीसे लगानेके लिये तैयार रहना चाहिये, सर्वथा तिरस्कार व झिड़कीसे त्यागकर दुष्टतर या दुष्टतम बनानेवाला काम उसके प्रति न करना चाहिये ।

जैसे हमारे देशमें भिखमंगी जाति हैं, चोर हैं जुआरी हैं तो हम इनका उपकार यों करें:—

(१) आदर्शसे, व्यक्तिक दयासे, बातचीतसे, कर्त्तव्य-ज्ञानकरा कर, विधि निषेध बतलाकर और उन्हें धर्मकी ओर प्रीतिपूर्वक उत्तेजित व संलग्न करके उन्हें सुधारें।

(२) उन्हें धर्म पुस्तकें ही पढ़नेको दें, रात दिन और कुछ काम न लें, सचाइयों और धार्मिक बातोंको उसके हृदयस्थ करने ही वाले कामको उनसे लें या अधिक लें।

(३) उन्हें अच्छोंके चरित्र पढ़ावें ; जैसे राम, कृष्ण, हरिश्च-न्द्रादि महात्माओंकी चरितावली।

(४) उनकी भूलसे कोई ऐसी सहायता न हो कि जिससे वे कुमार्गमें जांय ; जैसे जुवारीके हाथमें पैसा होने देना, या सौंपना बुरा फल दिखायेगा।

अनुवाक ५

हानिप्रदके प्रति परोपकार।

यहां तीन बात ध्यानमें लें:—

(१) जब एक व्यक्ति दूसरेको हानि पहुंचाये।

(२) जब व्यक्ति समाजको हानि पहुंचाये।

(३) जब एक समष्टि दूसरी समष्टिको हानि पहुंचाये।

(१) जब व्यक्तिको व्यक्ति हानि पहुंचाये, तो सताने वाला दुष्टता और व्यक्तिक स्वत्वोंके भङ्ग करनेका अपराधी होता है।

(क) जहांतक कि उसका काम दुष्ट है हमारी उस कामके साथ नैतिक घृणा ठीक वैसी ही होनी चाहिये जैसी कि दूसरेके साथ यही दोष किया जाता तो होती।

(ख) जहांतक कि दुष्ट अपनी दुष्टतासे दुख पाता है हमें करुणा (Pity) करनी चाहिये और उसे लाभ पहुंचानेका यत्न करना चाहिये अर्थात् उसकी दुष्टता छुड़ानेका उपाय करना उचित है।

(ग) उसके दुखका कारण नैतिक भूल है अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसे सुधारकर समाजमें अपना लेवें।

(घ) उसने हमारा अपराध किया है हम उसे क्षमा करें-तभी हमें कोई क्षमा करेगा नहीं तो क्षमाका निशान ही संसारसे जाता रहेगा।

(ङ) उसने अपराध किया है तभी तो हमें अपनी विशेष धर्मज्ञता व सहनशीलतासे नेकी दिखलानेका बड़ा अवसर मिला; हमारा काम है कि हम दुष्टको नेकीसे जीत लें, उसका सुधार करें और फिर अङ्गीकार कर लें। मनुष्यका काम है कि बुराईसे न हारे, किन्तु नेकीसे बुराईको जीत डाले, आप बुरा न बने बुरेको भला बनाकर अपनेमें ले ले। धर्मके दश लक्षणोंमें धृतिके बाद क्षमाको धर्मशास्त्रमें दूसरा पद दिया गया है।

दुष्टता करनेवालेके साथ जब बदलेमें नेकी की जाती है तो वह स्वयं लज्जित होकर दुष्टता छोड़ देता है, और उसके मनके भावोंमें एक चिरस्थाई सुधार पैदा होजाता है जो कि फिर उसे मनुष्य बना देता है। बदला लेनेकी प्रथा ठीक इसका उलटा प्रभाव मनुष्यपर डालती है। बदलेसे कोई भी नहीं सुधरता दोनों पक्षोंमें दुष्टता व दुर्बुद्धि ही प्रधानता पाती है व बढ़ती है।

(२) जब व्यक्ति समाजकी हानि करे।

जब कोई व्यक्ति सामाजिक नियम, सूत्र वा शासन धाराको भङ्ग करे तो वह इस उपविभागमें आता है। अब इसके साथ क्या वर्त्ताव करें? यह प्रश्न होता है।

(क) जो अपराध ऐसा हो जो न रोकनेसे समाजको विनष्ट तो न करेगा पर बड़ा हानि पहुंचायेगा तो उसे रोकना ही पड़ेगा अतः उसके रोकनेका उपाय करना समाजका धर्म है। बहुतोंकी सम्मति है कि एकान्त कारावाससे इस प्रकारके सुधार सर्वथा हो सकते हैं पर पहली दशाओंमें निस्सन्देह यह रीति बहुत लाभ प्रद होती है।

(ख) समाजका अपराधीके प्रति भी कुछ कर्त्तव्य है वह कर्त्तव्य बतलाता है कि समाज उसे पुनः अङ्गीकार करके उसके सुखी बनानेकी चेष्टा करे। अर्थात् उसे धार्मिक सदाचारी बनानेपर ध्यान दे। यह परोपकारका नियम व्यक्तियों और समष्टियोंपर एक समान माननीय है जो कारावासका वर्त्ताव धार्मिक हो तो बहुत सुधार हो सकता है पर शोक है कि कारागारका कुप्रबन्ध उलटा बन्दीको और कठोर हृदय दुष्टराज बनाकर समाजको वापिस देता है। हमारे पास यहां वर्त्तमान कारागारकी यथावत आलोचनाको स्थान नहीं है किन्तु जो महाशय देखना चाहें इसपर सर रमेशचन्द्र आदि कई विद्वानोंके लेख छपे हुये मिलेंगे। जो कुछ हमने लिखा है अपने अनुभव और अन्य अनुभवी पुरुषोंकी सम्मतिके अनुकूल लिखा है। जहां बदलेकी बुद्धिसे कारागार हैं व चलाये जारहे हैं वहां दुष्टोंकी संख्या लगातार गुणित होती जाती है, जहां बन्दीगृह, धर्मपुरीका शिक्षास्थल बना है वहां ही सुधार होता है। (Howard) हावर्ड कहता है कि "दुष्टोंको दण्ड देना व्यर्थ है, यदि तुम उन्हें फिर अपनानेकी चिन्ता नहीं रखते।"

(३) जहां समाजोंमें परस्पर एक दूसरेका स्वत्व भङ्ग होता है वहां भी उक्त सिद्धान्तही बहुत कुछ काम करते हैं। व्यक्ति और समाजके नाम व रूपमें भेद हो पर धर्मकर्त्तव्योंमें कोई प्रधान अन्तर नहीं है।

(१) कोई व्यक्ति ईश्वरीय नियमानुकूल बदला लेनेका अधिकारी नहीं है किन्तु प्रत्येक व्यक्तिके प्रति चाहें वह किसी रूपरङ्ग जाति व देशका क्यों न हो, वह बाध्य है कि औपकारिक नियमानुकूल ही बर्त्ताव करे यही वैदिक शिक्षाका गूढ़ तत्व है कि जो बुराई करे उसे नेकीसे जीतो।

(२) समाज प्रबन्धकर्त्ता व्यक्तियोंको कोई अधिकार नहीं है कि वह उक्त नियमको तोड़ें; जिस ईश्वरीय आज्ञाके बन्धनसे व्यक्तियां बंधी हैं उन्हींसे समष्टियां भी।

(३) हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि क्षमाका ही सिद्धान्त जातियों और समष्टियोंमें भी प्रधान होना चाहिये।

(४) अतः हमें कहना पड़ेगा कि सारे ही समर जो राष्ट्रोंमें परस्पर होते हैं ईश्वरीय इच्छाके विरुद्ध होते हैं और इसके सञ्चालक और पीठपोषक दुष्ट लोग ही हुआ करते हैं। किसी राज्य या जातिको समर करनेका अधिकार ही नहीं क्योंकि ईश्वरने मनुष्यको यह अधिकार दिया ही नहीं। जो हमारे पास नहीं है हम उसे दुसरेके हाथमें कैसे दे वा सौंप सकते हैं? जब किसी व्यक्तिको युद्ध करने रक्तपात करनेका ईश्वरने अधिकार नहीं दिया तो इन्हीं व्यक्तियोंसे बनी समष्टि या शासन शक्तिके हाथमें यह अधिकार कहांसे आया कि वह रक्त पात करे या रक्त पात करनेका अधिकार किसीको दे।

जो बुद्धि एक व्यक्तिको दूसरे व्यक्तिके रक्त पात करनेके बदले प्राण दण्ड देती है वह हजारों लाखोंका रक्तपात छलके बलसे अकम्पित होकर करडालनेको कब उचित कहेगी? परमात्मा एक मनुष्यका भी रक्तपात करनेकी आज्ञा हमें कदापि नहीं देता।

आनन्द त्रयी ।

(१)

परम पिता है जगत पति, जननी या जी जान ।
सकल सहोदर नारि नर, सत्य शुद्ध शुभ ज्ञान ॥

(२)

पिता ईश माता स्वभू, बन्धु सहोदर सर्व ।
भारत सुत प्रिय प्राणसम, समता गत सब गर्व ॥
तात उभय कम एक है, व्याप्ति भेद भू भेद ।
यह विजाति सम्बन्धमें, यह स्वजाति सम्भेद ॥

(३)

समता सत् सौजन्य संग, सुख स्वातन्त्र्य विशुद्ध ।
शुचि संस्कृत सम्बन्धमें, प्रियतम पन्थ प्रबुद्ध ॥

(४)

स्वजन ऐक्य स्वाधीनता, मातृ भाव अभिराम ।
शब्द अर्थ ज्यों भावत्रय, आर्य्य अर्य्या नाम ॥
परजन पुरजन भेदसे, उभय भेद बनजात ।
जैसे दोकुल देखिये, तात मातके नात ॥
एक जनक प्राधान्य है, मा प्राधान्य से दोय ।
ईश एक महि खण्डबहु, अन्तर बाहर होय ॥

(५)

रीति और सिद्धान्तदो, लेकर चले जहान ।
धर्म्म समाज सुनीति-नृप, जाति व्यक्ति कल्यान ॥

हमारा उद्धार कैसे हो।

या

हम कैसे बनें।

सबके हम, 'हरगीतिका' हमारे सब

प्रत्यक्ष प्रादुर्भूतजो जातीय राग जीवन विविध ।
सब संकलित एक भावनें हों धर्म्मसे शासितबहुविध ॥
इस भावसे हो संघटित सब एक हों मन भावनें ।
पथ धर्म्म परिदर्शितगहें, धर पांव एकी नावमें ॥
विश्वास युत शंकर समर्पित काजको पूरा करें ।
उसकी प्रजा प्रति प्रेमसे, भारत हृदयशाहीमें धरें ॥
उद्देश पक्का एकहो स्वातन्त्र्य अपने देशका ।
दृढ़ बात लेफिर मन रहे, आद्दप स्वतन्त्र विदेशका ॥
विश्वासमय हम होरहें, छलछिद्र हो बिलकुल नहीं ।
विप्लव सहाय, बिगाड़से केवल बना है कुछ कहीं ? ॥
यह हैं सभी साधन बुलानेके लिये उन्नति वहीं ।
जो वह नहीं तो यह वृथा जो यह नहीं तो वह नहीं
उद्धार भारतके लिये इन तत्वको मत भूलिये ।
मन कर्म वाणीसे सदा मन बुद्ध तुलामें तोलिये ॥
जीवात्मा अपना अमर है वेद यह बतलारहे ।
श्रीकृष्ण अनुमोदन करें त्यों उपनिषद् जतला रहे ॥
तन नेह नश्वर देहका उद्धार भारतका करो ।
सब भांति संगठकर यही यह कामनीके अनुसरो ॥

(राधे)